धर्म जीवन का आधार

मुनि प्रमाणसागर

संस्करण – नवम्, सितम्बर 2017
आवृत्ति – 1100 प्रतियाँ

धर्म जीवन का आधार

प्रवचनकार – **मुनिश्री 108 प्रमाणसागरजी महाराज**
मूल्य – रु.70.00 (हार्ड बाउंड)
रु. 47.00 (पेपर बैक)
प्रकाशक – निर्ग्रंथ फाउण्डेशन, भोपाल
मो. : 09425005624, 09425010161
मुद्रक – विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स
45, सेक्टर-एफ, औद्योगिक क्षेत्र, गोविन्दपुरा, भोपाल (म.प्र.)
फोन : 0755-2601952, 2602957

प्रस्तुति

बहुमुखी प्रतिभा के धनी मुनिश्री प्रमाणसागरजी महाराज सन्त शिरोमणि आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज के पांक्तेय शिष्यों में से एक हैं। उनका गहन-गम्भीर ज्ञान, निर्दोष-निस्पृह चर्या और सहज-सरलवृत्ति, व्यक्ति को सहज ही अपनी और आकर्षित कर लेती है। धर्म और दर्शन जैसे गूढ़ विषयों की सहज और सरल प्रस्तुति उनका अनुपम वैशिष्ट्य है। वे धर्म को पारम्परिक जटिलताओं से मुक्त कराकर जीवन व्यवहारोपयोगी स्वरुप में प्रस्तुत करते हैं। यही कारण हैं कि समाज का हर वर्ग बरबस ही मुनिश्री की ओर खिचा चला आता हैं। जो एक बार भी मुनिश्री के सम्पर्क में आता है उनसे अभिभूत हुये बिना नहीं रहता।

मुनिश्री की वाणी में अद्‌भुत आकर्षण है। उनका अभिव्यक्ति कौशल श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देता हैं। अपनी बात को सहजता और सरलता से श्रोताओं के हृदय में उतार देने में वे सिद्धहस्त हैं। उनके श्रीमुख से निकलने वाला एक-एक शब्द श्रोताओं के हृदय को झंकृत कर देता हैं। यही कारण है कि हजारों-हजार श्रोताओं के मध्य भी उनके प्रवचनों में सूचिपात निरवता रहती हैं। शैलीगत रोचकता और प्रस्तुति की मौलिकता से मुग्ध होकर आज लोग मुनिश्री का नाम सुनते ही उनकी अमृत वाणी का रसपान करने हेतु लालायित हो उठते हैं।

प्रस्तुत कृति मुनिश्री द्वारा पर्युषण पर्व में दिये गये प्रवचनों का सम्पादित रुप हैं। जो कि ''धर्म जीवन का आधार'' नाम से प्रकाशित हो रही हैं। यद्यपि इस विषय की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, फिर भी आद्यावधि प्रकाशित अन्य कृतियों की अपेक्षा इस कृति का गुरुतर वैशिष्ट्य हैं। वह है-मुनिश्री की प्रस्तुति! अनेक उद्धरणों, व्याख्यानों, पौराणिक सन्दर्भों और लालित्यपूर्ण प्रसंगो से कृति की रोचकता और उपादेयता कई गुनी बढ़ गयी हैं।

प्रस्तुत कृति में व्यक्ति के जीवन के गुणात्मक परिवर्तन का सार्थक संवाद हैं, धर्म को जीवन व्यवहार में उतारने की प्रबल प्रेरणा है और है आत्मा से परमात्मा बनने की अन्तरयात्रा का मार्मिक मार्गदर्शन! निश्चित ही कृति व्यक्ति का सच्चा मार्गदर्शन बनकर उसके गुणात्मक परिवर्तन का आधार बनेगी। इसी आशा और विश्वास के साथ पूज्य मुनिवर के चरणों में नमोस्तु अर्पित करते हुए इसे गुरुप्रसाद मानकर पाठकों को सौंप रहे हैं।

गुरु चरणानुरागी

डॉ. आनन्द मोहन जैन

दो शब्द

समकालीन समय के विसंगतिपूर्ण वातावरण में मानव अपने आपको असुरक्षित और भयग्रस्त अनुभव कर रहा हैं। उसके जीवन में 'प्रेम' के स्थान पर 'घृणा', 'शांति' के स्थान पर 'भय' का साम्राज्य स्थापित होता जा रहा हैं। आपसी सद्भाव, सहानुभूति, संवेदना और करुणा से उसका सम्बन्ध धीरे-धीरे समाप्त हो रहा हैं। ऐसी विषम स्थिति में उसके पास एक मात्र सम्बल शेष है तो वह है 'धर्म' का। 'धर्म' हमारे जीवन का एक ऐसा तत्त्व है जिसके द्वारा हमारे अन्तःकरण में शुचिता और पवित्रता का प्रादुर्भाव होता हैं। इसी धर्म के द्वारा हम हम अपने जीवन में उदात्त मूल्यों को धारण कर जीवन में 'ऊर्जा का संचार कर सकते हैं। इसी के माध्यम से मनुष्य पारिभाषिक दायरे' की सीमाओं में आता हैं अन्यथा इस हाड़, मांस से बने जीवन का 'अर्थ' ही क्या है? इसे अर्थवान बनाने के लिये सर्वप्रथम हमें 'धर्म' का आश्रय ग्रहण करना होगा क्योंकि 'धर्म' ही जीवन का आधार हैं। कहा गया है कि जिस प्रकार नेत्रविहीन मुख, नीतिविहीन राजा और चन्द्रविहीन रजनी का कोई मूल्य नहीं होता, ठीक वैसे ही 'धर्मविहीन' मानव की स्थिति हुआ करती हैं।

मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वह 'विभाव' को जीवन का हिस्सा मान लेता हैं। और फिर वह नाशवान को ही अपना मानने के भ्रम को ढोता रहता हैं। ऐसी स्थिति में 'धर्म' ही एक ऐसा तत्त्व है जो मानव को 'स्वभाव' में 'थिर' करने की प्रेरणा देता हैं। व्यक्ति के लिये जो 'स्वभाव रुप' में धारण करने योग्य है वह धर्म ही हैं। तथा जगत् में जो भी विसंगतियाँ पनप रही हैं वे स्वभाव से नहीं वरन् विभाव के कारण ही उत्पन्न हो रही हैं।

ऐसा माना गया हैं कि विभाव में लिप्त व्यक्ति को स्वभाव में लाने की वैज्ञानिक प्रक्रिया 10 विधियों से होकर गुजरती हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार 'उत्तम क्षमा', मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य का संकल्पपूर्वक पालन 'विभाव' को क्षीणकर 'स्वभाव' में व्यक्ति को थिर की विधियाँ हैं। मुनिश्री प्रमाणसागरजी ने अपनी धीरोदात्त वाणी में 'धर्म' की इन दस विधियों का जो लालित्यपूर्ण वैशिष्ट्य, उद्धारणपूर्ण रोचकता तथा सिद्धान्तों

को रसलतम् रुप प्रदान किया हैं वे उनके नामानुरुप गुणों के साथ-साथ उनके तप, त्याग, साधना और संयम की शिखर यात्रा के द्योतक हैं। सन्त शिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी महाराज ने इस पंचमकाल में भी चतुर्थकाल की चर्या के आचरण से जो महिमा अपने द्वारा तथा अपने अत्यन्त प्रभावकारी शिष्यों के द्वारा सम्पूर्ण भारतवर्ष में बिखेरी है उससे दिगम्बर साधुओं की कठोर साधना और तपश्चर्या के प्रति अगाध श्रद्धा का भाव सम्पूर्ण जैन/ जैनेतर समाज में जागृत हुआ हैं। यह इस सदी की अन्यतम् घटना मानी जायेगी।

आज का समाज मानव-मूल्यों के जिस संकट के दौर से गुजर रहा हैं उसे इस दौर से उबारने के लिये 'धर्म' के शाश्वत स्वरुप को जानने की महती आवश्यकता हैं क्योंकि 'धर्म' की यदि सही व्याख्या प्रस्तुत की जाय तो वह एक कुशल मनोवैज्ञानिक वैद्य की तरह रोगों का निदान और उपचार दोनों ही एक साथ कर देता हैं। विज्ञान के इस विनाशकारी युग में यदि इन तपस्वी साधु-सन्तों के भागीरथ प्रयास से ज्ञान की ऐसी ही गंगा प्रवाहित होती रही तो निश्चित ही इस संसार के विश्वव्यापी विनाश को रोका जा सकता हैं इनकी वाणी से निसृत नवनीत को प्राप्तकर विकारयुक्त हृदय भी निर्मल बन सकता हैं। भौतिकता के कीचड़ में फँसी सृष्टि अपना कायाकल्प कर सकती हैं। इसके लिये आवश्यकता हैं मुनि प्रमाणसागरजी जैसे सन्तों की जो 'धर्म' की पारम्परिक जटिलताओं को हटाकर उनकी अत्यन्त सरल और सहज व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

मुझे तो ऐसा लगता हैं कि वे निश्चित रुप से सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की विराट् अभिव्यक्ति के मुक्तिद्वार खोलने में सफल होंगे, क्योंकि उनकी वाणी से धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा अध्यात्म का पावन पंचामृत सदैव निसृत होता रहता हैं।

समय की शिला पर जीवन के शाश्वत सत्य की तस्वीर तराशने का श्रमसाध्य कार्य शब्द शिल्पी करता हैं। तस्वीर का आकार, तस्वीर का रुपांकन और तस्वीर के अन्दर की प्राणवत्ता शब्दशिल्पी के गहन चिन्तन, मनन, अध्ययन और प्रतिभा पर आश्रित रहती हैं। मुनिश्री प्रमाणसागर द्वारा प्रतिपादित 'धर्म जीवन का आधार' एक ऐसी ही कृति हैं जो हर दृष्टि से अनूठी है। इसमें छोटे-छोटे उद्धरणों के द्वारा 'धर्म' के आन्तरिक स्वरुप और उसके मर्म को समझाने का

कृतिकार ने जो प्रयास किया हैं वह देखते ही बनता हैं। 'सतसैया के दोहरे' की तरह 'शब्द' पाठक की अन्तश्चेतना पर सीधे प्रहार करते हैं। शब्द की सबसे बड़ी साधना यह है कि गम्भीर बात को भी अत्यन्त सहजता के साथ कह दिया जाये। अन्यथा 'शब्द-जाल' में उलझाकर अपने ज्ञान को प्रकट करने के लिये 'कठिन और दुरुह' शब्दों का सहारा लेना एक श्रेष्ठ कृतिकार का लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि कृति तो कृतिकार के आत्मचिन्तन और बोध का पर्याय और उसके वैचारिक कौशल का प्रतिबिम्ब मानी जाती हैं।

यों तो बहुत सारे मुनियों/आचार्यों/विद्वानों और पण्डितों ने 'धर्म' के दस लक्षणों की पारम्परिक व्याख्या प्रस्तुत की हैं, लेकिन सामयिक दृष्टि से 'धर्म' की प्रासंगिकता के स्वरुप को मुनि प्रमाणसागरजी ने इस कृति के माध्यम से जिस रुप में प्रस्तुत किया है वह हमें असाधारण प्रतिभा से परिचित कराती हैं। बहुत कम ऐसे रचनाकार होते हैं जो सिद्धान्तों की सतह तक पहुंचकर उनके मर्म को आत्मसात् करने का नैष्ठिक प्रयास करते हैं। फिर जिन रचनाकारों ने ऐसा किया है उनकी 'शैली' का प्रभाव पाठक के मानस को एक लम्बे अरसे तक 'गूँगे के गूढ़' की तरह मिठास से अभिभूत करता रहता हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह हैं कि कृतिकार की असाधारण प्रतिभा का जादू पाठक के चेहरे की चमक को आद्यन्त बनाये रखने में सफल हुआ है। यह 'कृति' धर्म को जीवन में उतारने की, उसके महत्त्व को जानने और समझने की तथा उस पर चलने की, जो दिशा और दृष्टि प्रदान करती हैं, वह अपने आप में अन्यतम हैं।

अतीत के सद्कर्मों के पुण्यों के संचयन के फलस्वरुप टीकमगढ़ नगर को परम् तपस्वी आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज के योग्यतम् शिष्य मुनिश्री समतासागर, मुनिश्री प्रमाणसागर और ऐलकश्री निश्चयसागर जी का सान्निध्य प्राप्त हुआ। चातुर्मास के दौरान 'ज्ञान' की ऐसी गंगा प्रवाहित हुई कि संतप्त मानव अपने आपको इस कालावधि में एकदम 'निर्जर' और 'निरापद' अनुभव करने लगा। ज्ञान का गम्भीर्य, सागधना का उत्कर्ष, प्रवचनों का जादू, मुद्रा के आकर्षण का प्रभाव इतना जबर्जस्त था कि श्रद्धा साष्टांग हुई और मन अभिभूत होकर आनन्द के सरोवर में डूबकी लगाता रहा।

आत्मानुरागी पाठकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे इस कृति के माध्यम से 'धर्म' के शाश्वत स्वरुप को जानने का एक बार प्रयास अवश्य करें, उन्हें अपरिमित आनन्द की अनुभूति होगी। वे सच्चे अर्थों में मुक्ति पथ के अनुगामी होकर अपने जीवन को उपकृत करने का एक अवसर अवश्य प्राप्त कर सकेंगे। और यह अवसर ही उनके जीवन को सार्थक बनायेगा।

अशेष आशीष की कामना के साथ श्रद्धावनत्।

पता :
नूतन बिहार कालोनी
ढोंगा, टीकमगढ़

डॉ. के.एल. जैन
विभागाध्यक्ष हिन्दी
शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
टीकमगढ़, (म.प्र.)

अनुक्रम

1.	कलम छोड़ क्षमा को धार	1
2.	करें मान का मर्दन	15
3.	त्यागे मिथ्याचार	29
4.	चक्क र लोभ और लाभ का	43
5.	सत्याचरण ही भगवान् की पूजा	61
6.	करें मन का दिशा दर्शन	79
7.	तन मिला तुम तप करो	91
8.	देता दौलत ना घटे	112
9.	ममता दु:ख की खान	126
10.	वासना से वात्सल्य की ओर	142

कलह छोड़ क्षमा को धार

तीन दिन का भूखा भिखारी नगर सेठ की हवेली के द्वारा पर गया। उसने भिक्षा के लिए पुकार लगायी। सेठानी ने भिखारी को देखा और कहा – ''आगे जाओ, यहाँ कुछ नहीं है।'' भिखारी ने कातर स्वर में कहा– ''माता जी, तीन दिन का भूखा हूँ, कुछ तो दे दीजिए। '' भिखारी को दुत्कारते हुए सेठानी ने कहा– ''यहाँ से जाते हो कि नहीं, सुबह–सुबह दिन खराब करने के लिए आ गये।'' भिखारी भी ऐसा–वैसा नहीं था। उसने अत्यन्त दीनतापूर्वक प्रार्थना की और कहा– ''माता जी, एक रोटी ही दे दो, बड़ी कृपा होगी।'' सेठानी तमतमा गयी। उसने भिखारी पर दे मारा।

भिखारी ने सहज भाव से उसे उठा लिया। भगवान् को धन्यवाद देते हुए उसने कहा– चलो कुछ तो मिला। साँझ ढलने पर वह भगवान् के मन्दिर में गया। उस पोतने की एक बाती बनायी और भगवान् के सामने जलाकर उसने भगवान् से प्रार्थना करते हुए कहा–''हे प्रभो! इस दीपक की तरह उस सेठानी के हृदय को भी प्रकाश से भर दे।''

भिखारी की यह भावना उसके अन्तरंग में विराजित उत्तमक्षमा की अभिव्यक्ति है।

क्षमा आत्मा का स्वभाव है। सहिष्णुता, समता और सौजन्य क्षमा की पर्यायें हैं। क्षमा शब्द की निष्पत्ति संस्कृत के 'क्षमु' धातु से हुई है। यह सामर्थ्य और क्षमता के अर्थ में प्रयुक्त है। सामर्थ्य और क्षमता सम्पन्न व्यक्ति ही क्षमा धार सकता है। क्षमा का एक अर्थ धरती और वृक्ष भी है। धरती सारी दुनियाँ के भार को सहती है। सबके पदाघात को को सहन करती है। किसी का कोई प्रतिकार नहीं करती है। यह धरती की महानता है। इसी कारण इसे क्षमा कहा जाता है। वृक्ष शीत, गर्मी और वर्षा की बाधाओं को प्रतिकार रहित सहन करते हैं तब उनमें मीठे फल लगते हैं। वृक्ष पर पत्थर मारने पर भी वह फल देता है। यही उसकी महानता है। धरती और वृक्ष की भाँति सहिष्णु व्यक्ति ही क्षमा जैसे गुण को धारण कर सकते हैं। क्षमा धारण करना विशिष्ट क्षमतावान् महान् आत्माओं के ही वश की बात है।

आज के युग में क्षमा के लिए एक नया शब्द चल पड़ा है- sorry(सॉरी) सॉरी में क्षमा का भाव नहीं है। क्षमा अंतरंग की चीज है। क्षमा तीन परिस्थितियों में की जाती है-

- मजबूरी में
- स्वार्थ वश
- वास्तविक

मजबूरी की क्षमा- जब परिस्थितियाँ अपने अनुकूल नहीं होती, व्यक्ति मन मसोसकर क्षमा धार लेता है। वह जानता है कि इस समय कुछ भी प्रतिक्रिया व्यक्त करना खतरे से खाली नहीं है। ऐसी परिस्थितियाँ में धारा गया मौन क्षमा रूप दिखता है, पर यह वास्तविक क्षमा नहीं है। एक बार एक आदमी को किसी पहलवान ने चाँटा मार दिया। पहलवान की मार से वह व्यक्ति भीतर से तिलमिला गया, पर पहलवान की छवि देखते ही उसका सारा क्रोध पानी हो गया। उसने पूछा-'क्यों जी! आपने मुझे सही में मारा या मजाक में ?'पहलवान ने कहा- 'सही में।'

''सही में मारा तो कोई बात नहीं क्योंकि मजाक मुझे पसंद नहीं है'' सामने वाले व्यक्ति ने जबाव दिया।

परिस्थितियों के प्रतिकूल रहने पर अथवा प्रतिकार की क्षमता के अभाव में धारी गई क्षमा, क्षमा नहीं कही जा सकती।

स्वार्थ/लोभवश- मनुष्य अपने स्वार्थ और लोभ के कारण भी अपने क्रोध को जीत लेता है। जहाँ हमारा स्वार्थ सधता दिखता है वहाँ क्रोध का निमित्त आने पर भी क्रोध नहीं आता। आप दुकान पर बैठे हैं, ग्राहक को माल दिखा रहे हैं। घण्टों माल दिखाने के बाद भी उसे कुछ पसन्द नहीं आता। आपके मन में क्रोध आ रहा है, पर मुख में मिठास है। आप ग्राहक से अत्यन्त आत्मीयता पूर्वक कह रहे हैं कि कोई बात नहीं, आप पुनः आइएगा नया माल आने वाला है। मन की प्रतिक्रिया को मुख पर न लाना, क्रोध के कारण आने पर भी क्रोध न करना, क्षमा का यह रूप भी देखने को मिलता है। वस्तुतः यह स्वार्थ प्रेरित क्षमा है। लोभ क्रोध को दबा देता है।

वास्तविक क्षमा- क्रोध को उत्पन्न ही नहीं होने देना वास्तविक क्षमा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने उत्तमक्षमा धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है-

कोहुपत्तिस्स पुणे बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचिवि कोहं तस्स खमा होदि धम्मोत्ति।। बारस अणुवेक्खा

अर्थात्- क्रोध का बाह्य निमित्त आने पर भी क्रोध उत्पन्न न होने देना उत्तम क्षमा है। क्रोध का कारण मिलने पर भी क्रोध न करना बड़ी ऊँची साधना है। क्रोध का प्रतिकार क्रोध से करना अत्यन्त सरल है। इसमें कौन सी बहादुरी है। हर कोई क्रोध के आवेग में बहकर क्रोधाविष्ट हो सकता है। क्रोध के क्षणों में क्षमा धारण करना ही सच्चा पुरूषार्थ है।

महर्षि अरविन्द के पास एक दिन एक फ्रांसिसी युवक आया। युवक मन का सरल पर स्वभाव से उग्र था। उसके हृदय में हमेशा क्रोध का तुफान मचा रहता था। एक दिन महर्षि अरविन्द ने कहा- ''जरा सोच कर बताओ, तुम जैसे हृष्ट-पुष्ट लड़के के लिए सबसे कठिन काम कौन सा है? थप्पड़ के बदले थप्पड़ लगाना या मारने वाले साथी पर जवाबी हमला करना, अथवा उसी समय अपनी मुट्ठी को जेब में डाल लेना।''

युवक बोला- ''अपनी मुट्ठी को जेब में डालना।''

महर्षि बोले- ''तुम जैसे तेजस्वी युवक के लिए सरल काम उचित है या कठिन?'' कुछ क्षण सोचकर युवक ने कहा- ''सबसे कठिन काम करना।'' महर्षि ने कहा ''बहुत अच्छा, अब तुम ऐसा ही करने का प्रयत्न करना।''

कुछ दिन बाद वह युवक महर्षि के चरणों में आया और प्रसन्नतापूर्वक कहा ''मैं सबसे कठिन काम करने में सफल हो गया हूँ।''

महर्षि ने पूछा- 'वह कैसे'? वह बोला- ''कारखाने में मेरे साथ काम करने वाले एक युवक ने जो अपने बुरे स्वभाव के लिए प्रसिद्ध है, क्रोध में आकर मुझे पीटा। क्योंकि वह जानता था कि मैं साधारणतया क्षमा नहीं करता, मुझमें ताकत भी है, अतः वह अपनी रक्षा के लिए तैयार हो गया। ठीक उसी समय मुझे आपकी बात याद आ गई। वैसा करना मुझे कठिन लगा फिर भी मैंने अपनी मुट्ठी

जेब में डाल ही ली। जैसे ही मैंने ऐसा किया, मेरा गुस्सा न जाने कहाँ गायब हो गया। उसका स्थान साथी के प्रति दया ने ले लिया। मैंने तब अपना हाथ साथी की ओर बढ़ाया, एक क्षण को वह मुझे देखता रहा, एक शब्द भी न बोल सका। फिर शीघ्रता से मेरे हाथ की ओर लपका और द्रवीभूत होकर कहा- ''आज से तुम मुझसे जो चाहो करा सकते हो। अब मैं तुम्हारा मित्र बन गया हूँ।''

क्षमा के विषय में कहा गया है- 'सत्यपि प्रतिकार सामर्थ्येऽपकार सहनं क्षमा'। प्रतिकार करने की सामर्थ्य होते हुए भी दूसरों के अपकार को सहन करना वास्तविक क्षमा है। उदार दृष्टि और सकारात्मक सोच वाले व्यक्ति ही इसे धारण कर सकते हैं। सत्ता, शक्ति और प्रभुता से सम्पन्न होने के बाद भी अपने अपकारी के प्रति क्षमाभाव बनाये रखना महात्मा का लक्षण है। छोटी-छोटी बातों में उद्विग्र और विचलित होना उथली मानसिकता की पहचान है। सच्चे साधक विषमतम परिस्थितियों में भी उद्विग्न नहीं होते। उनकी समता खण्डित नहीं होती। वे हर परिस्थिति में समता और क्षमा की प्रतिमूर्ति बने रहते हैं।

एक साधु नाव पर यात्रा कर रहे थे। नाव पर कुछ युवक भी सवार थे। युवकों को मजाक सूझा। उन्होंने साधु महाराज की हँसी उड़ाना शुरू कर दी। साधु समता को उनकी कमजोरी समझा। वे एकदम उद्दण्डता पर उतर आये। पर साधु महाराज पूर्णतः अविचलित रहे।

सन्त कहते हैं- साधुओं का स्वभाव चन्दन की भाँति होता है जो जलाये जाने पर भी सुगन्ध प्रदान करता है। एक युवक ने साधु महाराज को नदी में ढकेलना चाहा कि तभी जल देवता प्रकट हो गये। जल देवता ने साधु महाराज से निवेदन करते हुए कहा- ''महाराज! इन दुष्टों ने आपके साथ दुर्व्यवहार किया है, मैं अभी नाव पलट कर सभी को सबक सिखाता हूँ। सन्त ने देवता को रोकते हुए कहा-'' नहीं-नहीं, ऐसा मत करो, नाव पलटने से क्या होगा? पलटना ही है तो इनकी बुद्धि पलट दो।''

सन्त की वाणी सुनकर सारे युवक पानी-पानी हो गये। सभी उनके चरणों में गिरकर क्षमा माँगने लगे। यह है आदर्श क्षमा। कुरल काव्य में ठीक ही कहा है- ''घमण्ड में चूर होकर जिन्होंने तुम्हें हानि पहुँचाई है, तुम उन्हें क्षमा

व्यवहार से जीत लो।''

जिस हृदय में प्रतिहिंसा, प्रतिशोध अथवा प्रतिरोध की भावना है वह व्यक्ति धन, सत्ता और प्रभुता आदि से चाहे जितना ही सामर्थ्य हो, स्वप्न में भी मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता और न ही आध्यात्म के पथ में आगे बढ़ सकता है। प्रतिहिंसा या प्रतिशाध की भावना से जिसका हृदय क्षुब्ध है उसमें शान्ति प्रकट हो ही नहीं सकती। ऐसे विकारग्रस्त चित्त में बैर भाव घर कर जाता है। परिणामतः चित्त की सारी शुभवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। प्रतिहिंसा की भावना अन्दर ही अन्दर चित्त को विकारग्रस्त बना देती है।

हिंसा को प्रतिहिंसा से दूर नहीं किया जा सकता। उसे तो प्रेम, क्षमा और सहिष्णुता द्वारा ही जीता जा सकता है। इसलिए बैर-भाव, क्रोध, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध या हिंसक प्रतिकार आदि सबको आत्मा के अहितकारी मानकर उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए। तभी दूसरों के हृदय को क्षमा से जीता जा सकता है।

सन्त कहते हैं कि बदला लेने का आनन्द तो एक ही दिन होता है किन्तु क्षमा करने वालों का गौरव सदा स्थिर रहता है। इस सन्दर्भ में आचार्य शान्तिसागर महाराज के जीवन का एक प्रसंग बड़ा ही प्रेरक है।

आचार्य शान्तिसागर जी महाराज इस युग के महान् साधक हुए हैं। वे क्षमा की प्रतिमूर्ति थे। एक बार वे अपने संघ सहित राजाखेड़ा (धौलपुर, राजस्थान) में विराजमान थे। वहाँ के कुछ धर्म-विद्वेषी असामाजिक तत्त्वों को महाराज के आगमन से चिढ़ थी। आचार्य महाराज इससे पूरी तरह अनभिज्ञ थे। इधर उन धर्म विद्वेषियों ने अन्दर ही अन्दर षड्यंत्र रचकर पूरे संघ पर घातक हमला कर दिया। यह एक सुखद संयोग था कि आचार्य महाराज ने आसमान में बादल देखकर पूरे संघ को मन्दिर के अन्दर ही सामायिक करने का निर्देश दे दिया था। इस कारण हमलावरों के मनसूबे पूरे नहीं हो सके। समाज के लोगों ने उनसे जमकर लोहा लिया।

सूचना पाते ही प्रशासन सक्रिय हुआ। थोड़ी ही देर में मुख्य आरोपी पकड़ा गया। प्रशासन के प्रमुख वायसराय खुद वहाँ पहुँचे। उन्होंने आचार्य

महाराज से कहा कि महाराजश्री। आप आदेश दें इन्हें कौन सी सजा दूँ।

आचार्य महाराज ने अत्यन्त सरलता से कहा-''यदि तुम मेरे आदेश से इन्हें सजा देना चाहते हो तो इन्हें क्षमा कर दो। ये क्षमा के ही पात्र हैं। इस कृत्य में इनका कोई दोष नहीं है। ये अपने क्रोध में अन्धे हो गये थे। आप इन्हें क्षमा कर दो।'' महाराजश्री के दृढ़ आदेश के कारण सभी अभियुक्तों को क्षमा कर दिया गया। जैसे ही अभियुक्तों को इसकी जानकारी मिली, सभी आकर महाराज के चरणों में गिर पड़े। महाराज की उदारता और विशाल हृदयता से सभी का मन अभिभूत था।

यह है आदर्श क्षमा। यह सकारात्मक सोच और विशाल हृदय का प्रतिफल है। ऐसे ही लोगों के लिए कुरल काव्य में लिखा है-

महान्तः सन्ति सर्वेऽपि क्षीण कायास्तपस्विनः।

क्षमावन्त मनुख्याताः किन्तु विश्चे हि तापसाः।।

उपवास करके तपश्चर्या करने वाले निःसन्देह महान् हैं, पर उनका स्थान उन लोगों के पश्चात् ही है, जो अपनी निन्दा करने वालों को क्षमा कर देते हैं।

सन्त कहते हैं-''क्रोध का कारण आने पर भी क्रोध न करें'' तो बहुत अच्छी बात है। यह सम्भव नहीं हो रहा है तो कम से कम ''बैर की गाँठ तो मत बाँधो।'' किसी से विवाद होता है, तत्काल क्षमा कर विवाद को समाप्त कर दो। आपसे क्रोध हुआ है- अकारण या किसी कारण और आप क्षमा माँगने तत्पर हो जाए अथवा किसी ने क्रोध किया, उसे क्षमा करने तत्पर हो जाते हैं, तो बैर की गाँठ नहीं पड़ेगी। अबैर के जीवन की शुरूआत होगी। आपके जीवन में क्षमा का अवतरण होगा। गृहस्थ की क्षमा का अर्थ है 'अबैर का जीवन'। अतः यथा सम्भव बैर-विरोध से दूर रहें। आज व्यक्ति से कहा जाए 'क्रोध मत करो'। तो उत्तर होगा ''सम्भव नहीं है।'' क्योंकि जो बिना वाद्य के ही नाचने आदी है, वह वाद्य बजे और नाचे नहीं! असम्भव। उसके सामने वाद्य बजाओगे तो वह नाचेगा ही नाचेगा। इसी प्रकार जो अकारण क्रोध करने का आदी है, उसके समक्ष क्रोध का कारण आ जाए तो वह तो क्रोध करेगा ही करेगा। इसलिए सन्त कहते हैं-

''ठीक है जितना बन सके क्रोध पर नियन्त्रण करो, पर कम से कम कलह मत करो।'' क्रोध की परिणति है कलह। कलह जीवन में अशान्ति का कारण है। बैर की परम्परा बढ़ाने वाली है। अतः क्रोध और कलह पर नियन्त्रण करना है तो क्रोध के भेद को जानना आवश्यक है।

शास्त्रों में चार प्रकार के क्रोध बताये हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, अप्रत्याख्यान क्रोध, प्रत्याख्यान क्रोध एवं संज्वलन क्रोध। क्रोध से कलह होती है।, कलह से दूरियाँ बढ़ती हैं। इसे प्रतीकों से समझाया गया है।

पत्थर की लकीर (अनन्तानुबन्धी क्रोध) : कभी न मिटने वाली लकीर। चट्टानों में, पत्थर में लकीर पड़ जाए तो वह कभी मिटती नहीं। अनन्तानुबन्धी क्रोध ऐसा ही है जो अनन्त जन्मों के बैर का बन्ध करता है। बैर की गाँठ जन्म जन्मान्तर तक नहीं मिटती। यह अधर्मी, मिथ्यादृष्टि के जीवन में होता है। यह अनन्तानुबन्धी क्रोध, क्रोध का सबसे बलिष्ठ रूप है, तीव्र रूप है।

धरती की लकीर (अप्रत्याख्यान क्रोध) :- गर्मी के दिनों में धरती फट जाती है, भूमि में दरार पड़ जाती है। थोड़ी सी वर्षा होती है, दरार मिट जाती है। उसी तरह अप्रत्याख्यान क्रोध होता है। किसी के प्रति किसी कारण से, निमित्त से टकराव हो गया, दुराव हो गया तो भी अधिक समय तक नहीं रहता। मन में दूरी आयी है तो उपदेशामृत की वर्षा से अपने आप मिट जाती है। अविरत सम्यग्दृष्टि के जीवन में अप्रत्याख्यान क्रोध तक का क्रोध रह सकता है, वह भी छः माह से अधिक नहीं।

धूल की लकीर (प्रत्याख्यान क्रोध) : धूल की लकीर खींचो, रेखा अंकित हो जाती है लेकिन थोड़ी सी हवा चली, हवा का झोंका आया, वह लकीर पट जाती है, मिट जाती है। प्रत्याख्यान क्रोध भी ऐसा ही होता है। विवाद हुआ मन में लकीर बनी, किसी ने समझा दिया, लकीर मिट गई, क्रोध शान्त हो जाता है। व्रती साधकों के जीवन में प्रत्याख्यान क्रोध तक होता है। इसकी अवधि पन्द्रह दिन है। अर्थात् व्रती में कदाचित् क्रोध की स्थिति बन भी जाये तो भी वे अपने क्रोध को पन्द्रह दिन के पहले निर्मूल कर लेते हैं।

जल की लकीर (संज्वलन क्रोध) : पानी में लकीर खींचो। लकीर

बनती अवश्य है पर इधर खींचते जाओ उधर मिटती जाती है। ''खिंची नहीं कि मिटी नहीं'' पानी में लकीर अधिक समय ठहर नहीं सकती। साधु पहले स्तर तक तो क्रोध को आने ही नहीं देते। कदाचित् क्रोध आ ही जाये तो वह जल की लकीर की भाँति होता है। इधर क्रोध आया, उधर उसका सफाया। तत्काल वो प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त करते हैं। क्रोध को निर्मू कर देते हैं।

सन्त इसलिए कहते हैं कि यथाशक्ति क्रोध पर नियन्त्रण करो। क्रोध के भेद को जान लो। किसी के प्रति बैर की गाँठ मत बाँधो। क्रोध का करण आ जाए तो तत्परता से क्षमा माँगने या करने की प्रवृत्ति रखें। अबैर का जीवन जीने का प्रयास करो। यह सम्भव है (अवेयरनेस) से अर्थात् सतत जागरूकता से। देखो कि क्रोध, बैर का क्रम लगातार बढ़ तो नहीं रहा है। कलह से बचना चाहते हो तो कलह के कारणों को जानना होगा तभी उसका निराकरण होगा। कलह के पाँच कारण हैं- रूचि भेद, चिन्तन भेद, आग्रह, स्वार्थ और गलतफहमी।

रुचि भेद :- दो व्यक्तियों की यदि रुचियाँ अलग हों तो सामंजस्य नहीं होता। घर में दो बेटियाँ हैं, अलग-अलग रुचि है तो बात-बात में तकरार होती है। भोजन की थाली में यदि प्रिय व्यंजन नहीं परोसा गया, बहुत है कलह के लिए। थाली में सब कुछ है, किन्तु दाल-सब्जी में नमक कम है तो थाली हवा में नृत्य करने लगती है। यह रुचि भेद है।यह है, तो एकरूपता नहीं आ सकती। समान रुचि के लोगों के साथ रहोगे तो क्रोध के कारण कम बनेगें। असमान रुचि के लोगों के मध्य कलह होती ही रहेगी। अपनी धारा में रहोगे तो मतभेद नहीं होंगे, दूसरी धारा में जाओगे तो विवाद ही होगा। विद्युत् प्रवाह में शार्टसर्किट (Short Circuit) से आग लग जाती है। शार्ट सर्किट Short Circuit का कारण क्या है? दो तार अपनी धारा प्रवाहित करते रहें तो ठीक, किन्तु एक धारा का Phase तार दूसरी धारा Neutral के तार से जुड़ जाए तो Short Curcuit हो जाता है। अपनी रुचि से व्यक्ति चलते रहें, विवाद नहीं होता। विवाद तब होता है जब व्यक्ति एक-दूसरे को अपने अनुकूल चलाना चाहता है।

चिन्तन भेद :- सोच का अन्तर। हम किसी विषय पर एक दृष्टिकोण रखते हैं, दूसरा उस विषय पर अलग दृष्टिकोण रखता है। दोनों की विचारधारा,

चिन्तन की दिशा अलग-अलग है और दोनों अपने चिन्तन का ही सही मानें तो यह सोच का अन्तर टकराव/कलह का कारण बन जाता है।

आग्रह-अर्थात् हठ :- रुचि भेद तथा चिन्तन भेद से आग्रह उत्पन्न होता है। आग्रह में टकराव स्थितियाँ बनती हैं। अपनी-अपनी बात पर अड़ेंगे तो लडेंगे ही। अड़ने वाले लड़ने के अलावा क्या करेंगे। भगवान् महावीर ने इसी आग्रह की कलह को मिटाने अनेकान्त का सिद्धान्त दिया। ''मैंजो सोच रहा हूँ, कर रहा हूँ- सही कर रहा हूँ, इसके साथ यह भी सोचो- दूसरा जो कर रहा है, सोच रहा है, वह उसके दृष्टिकोण से सही ही कर रहा होगा''।

आचार्य बिनोवा भावे के पास एक व्यक्ति गया और बोला-''बाबा लोग मेरी बात नहीं मानते, जबकि मैं बिल्कुल सही कहता हूँ। मेरी ही बात सही होती है।'' बिनोवा-''तुम जो कहते हो वह ही सही होता है? ठीक है, ये बताओ के हिमालय किस दिशा में है?'' वह ''उत्तर में''। बिनोवा- ''यही प्रश्न किसी चीन के निवासी से पूछें तो उसका क्या जबाव होगा''? ''दक्षिण में'' बिनोवा- तुम तो कहते हो उत्तर, फिर हिमालय दक्षिण में कैसे हो गया? तुम्हारी बात ही सही है तो उसकी बात कैसे सही हो गई। हिमालय तुम्हारी अपेक्षा उत्तर दिशा में है, चीन के व्यक्ति की अपेक्षा दक्षिण में है। इसलिए तुम भी सही हो, वह भी सही है। यह अनेकान्त का दृष्टिकोण है। इससे हठ की स्थितियाँ टल जाती हैं, क्रोध की स्थितियों को टाला जा सकता है। आग्रह, पूर्वाग्रह, दुराग्रह ये सब कलह के कारण हैं। इनके पीछे कई बार बड़ी विषम परिस्थितियाँ बन जाती हैं। एक नवदम्पत्ति आपस में भावी जीवन की रूपरेखा बना रहे थे। प्रसंग आया भावी सन्तान को क्या बनायेंगे। पति डॉक्टर था उसकी इच्छा डॉक्टर बनाने की थी। पत्नी डॉक्टर के व्यस्त जीवन से त्रस्त थी, अतः वह सन्तान को इंजीनियर बनाना चाहती थी। दोनों अपनी-अपनी बात पर अड़ गये। कोई झुकने तैयार नहीं। विवाद बढ़ता गया। अन्ततः तलाक Divorce की स्थिति आ गई। मामला अदालत तक पहुंच गया। जज ने फैसला सुनाने के पहले उन दोनों से कहा-''आप डॉक्टर बनाना चाहते हो, आप इंजीनियर बनाना चाहती हैं, क्या आप लोगों ने अपने बेटे से पूछा है वह क्या बनना चाहता है। आपका बेटा कहाँ है?'' दोनों एक साथ बोल पड़े-''बेटा! वह तो अभी पैदा ही नहीं हुआ है।'' कितनी विचित्र स्थिति

है- सन्तान जिसका जन्म नहीं हुआ उसके प्रति आग्रह बन गया, घर नरक हो गया। इस आग्रह की वृत्ति से पारिवारिक जीवन में, सामाजिक जीवन में कटुता आ जाती है। इस आग्रह वृत्ति को छोड़ने का प्रयास करना चाहिए। व्यक्ति कहता है- 'मेरा सो खरा' सन्त कहते हैं-'खरा सा मेरा'। जो खरा है, शुद्ध है, उसे ग्रहण करने की भावना रखें, जीवन सुखी होगा।

स्वार्थः- स्वार्थ व्यक्ति की सोच को संकीर्ण बना देता है। उसका चिन्तन अनुदार होता है। वह मात्र अपने हित की बात सोचता है। अपने हितों की पूर्ति के लिए दूसरों के अहित में उसे कोई संकोच नहीं होता। इसलिए कहते हैं कि स्वार्थी व्यक्ति की संवेदना मोथली होती है। स्वार्थ समस्त पापों की जड़ है। एक अंग्रेज विचारक ने लिखा है-

Selfishness is the root and source of all natural and moral evils.

स्वार्थ समस्त दुर्गुणों की जड़ है। इस धरती पर जितने भी बड़े-बड़े युद्ध हुए हैं उनका मूल कारण स्वार्थ है। स्वार्थ प्रेरित व्यक्ति हर स्तर तक उतर आता है। स्वार्थी व्यक्ति अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए हर प्रकार के हथकण्डे अपनाता है। जब तक स्वार्थ सधता है तब तक सब कुछ ठीक,पर स्वार्थ के टकराते ही टकराव और कलह की स्थिति निर्मित हो जाती है। अतः स्वार्थ और स्वार्थी व्यक्तियों से बचकर रहना चाहिए। स्वार्थ व्यक्ति को परमार्थ से विमुख करता है। अपनी बुद्धि को परमार्थ में नियोजित करना ही सच्च पुरुषार्थ है।

गलतफहमी (Misunder standing) :- इससे बहुत जल्दी मनोमालिन्य हो जाता है। मन में शंका की दरार पड़ जाती है। इस गलतफहमी के कारण ''सूत न कपास, जुलाहों में लट्ठम लट्ठा'' की कहावत चरितार्थ हो जाती है। जिसके प्रति विश्वास हो उसके प्रति मिस अन्डर स्टण्डिंग (Misunder standing) नहीं होती। यदि किसी के प्रति कोई गलतफहमी हो गई है तो तत्काल उसका निराकरण करो। तह में, जड़ में जाओ कि क्या सच्चाई है। अपना पक्ष बता देने और उसका पक्ष सुन लेने से गलतफहमी का निराकरण हो जाता है। अन्यथा संशय और फिर दरार बनने में देर नहीं लगती।

दो अभिन्न मित्र थे, दो शरीर एक जान। उनकी मित्रता की मिसाल दी जाती थी। लोग उनकी मित्रता से ईर्ष्या करने लगे थे। एक महिला ने उनकी मित्रता तोड़ने का बीड़ा उठाया। एक दिन वे दोनों टहल रहे थे, कि ये उधर आई। एक को इशारे से पास बुलाया। उसके कान के पास मुँह ले जाकर कुछ बोलने का अभिनय किया और चली गई। वह तो चली गई पर छोड़ गई संशय की लकीर। दूसरे ने उत्सुकता से पूछा–''क्यों भाई, वह क्या कह रही थी? पहला= ''कुछ नहीं''। दूसरा ''अजीब बात है, इतनी देर बताती रही। तुम कहते हो कुछ नहीं। जरूर मेरे विषय में कुछ कहा होगा।'' पहला–''अरे भाई, क्या बताऊँ।'' दूसरा ''तुम मुझसे छुपा रहे हो, उसने कुछ नहीं कहा, कैसे मान लूँ?'' पहला– ''भाई मेरा विश्वास करो, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ वह क्यों आई थीं?'' दूसरा– ''ठीक है तुम्हारे मन में खोट आ गया है, वरना तुमने मुझे क्यों नहीं बुलाया।'' संशय से विश्वास कम होने लगा। व्यवहार में बदलाव आया। और यह बदलाव एक दूसरे के प्रति विद्वेष में परिणत हो गया। यह है गलतफहमी का परिणाम। अतः बिना दूसरे का पक्ष सुने धारणा बनाने की प्रवृत्ति से बचें।

कलह निवारण के उपाय :– कलह निवारण के चार उपाय हैं–

– सहिष्णुता का विकास
– समग्रता का चिन्तन
– विनोद प्रियता
– मौन

सहिष्णुता का विकास :– क्रोध और कलह के निवारण के लिए सहिष्णुता का विकास अपेक्षित है। सहिष्णुता व्यक्ति गम्भीर होते हैं। गम्भीरता कलह को रोकती है। सन्त कहते हैं कि तुम धरती के समान सहिष्णु बनों।

अपने अपकारी के अपराध को सहन करना, उसका प्रतिवाद य प्रतिकार न करना बहुत कठिन है। सहिष्णुता के विकास के लिए क्रोध/कलह की अनिष्टता तथा क्षमा और मृदुता की उपादेयता का चिन्तन अपेक्षित है। मनोवैज्ञानिक कहते है कि चिन्तन और भावना के बल पर हम अपने अवचेतन मन के संस्कारों को बदल सकते हैं। इसके लिए एक प्रक्रिया है 'आटो सजेशन' की। मनसविद् कहते

हैं कि हम जिस किसी भी गुण का विकास चाहते हैं उसके पोषक सूत्र वाक्यों का बार-बार स्मरण करें। साथ ही उसके विपक्षी दोषों का चिन्तन करें। मन के संस्कार बदलेंगे। जो व्यक्ति बात-बात में भड़क उठते हैं, वे सहिष्णुता के विकास के लिए नित्य प्रति क्षमा और मृदुता के गुणों का चिन्तन करें। साथ ही यह विचार करें कि क्रोध और कलह बुरा है, इनके परिणाम विघातक हैं, मुझे इनसे बचना चाहिए। यह चिन्तन व्यक्ति को सहनशील और सहिष्णु बनाएगा। ऐसे व्यक्ति विषमतम परिस्थिति में भी समता बनाए रखने की क्षमता अर्जित कर सकते हैं।

समग्र चिन्तनः- किसी भी घटना पर एकतरफा विचार मत करें। उसे दूसरों के दृष्टिकोण से भी समझने की कोशिश करें। बहुधा ऐसा होता है, जैसा हम चाहते हैं, वैसा दूसरे ने नहीं किया तो क्रोध आता है। यह नकारात्मक सोच है।

यही सोच लें- हो सकता है उसकी कोई विवशता हो या उसका दृष्टिकोण कुछ और हो। यह सकारात्मक सोच है। इसमें क्रोध नहीं होता। अपनी सोच को औरों पर आरोपित न करना और उनके दृष्टिकोण पर विचार करना- समग्र चिन्तन है। क्रोधी व्यक्ति समग्र चिन्तन नहीं कर पाता। आपकी ठोकर से काँच का रखा समान टूट जाता तो फिर क्रोध बढ़ जाता है-''क्यों अन्धा है क्या, दिखता नहीं।'' कौन अन्धा है? अन्धा ता वह है जो क्रोध में जी रहा है।

एक गिलास में आधा पानी है। ''गिलास आधा भरा है'' यह उतना ही सत्य है जितना की ''गिलास आधा खाली है।'' यह अनेकान्त का व्यवहारिक रूप है। इस दृष्टिकोण के अपनाने से सहिष्णुता का विकास होता है। अनेकान्त में दो शब्द 'ही' और 'भी' बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। ही-जहाँ केवल अपना आग्रह हो यह एकान्त, एकाधिकार का प्रतीक है। भी-जहाँ अपने साथ अन्य की अपेक्षा है- यह अनेकान्त, सामंजस्य का प्रतीक है। आचार्यश्री ने बहुत अच्छी बात कही है-

'ही' से 'भी'की ओर ही बढ़ें सभी हम लोग।
छह के आगे तीन हो विश्वशान्ति का योग।।

ही-आग्रह से, भी- अपेक्षा की ओर बढ़ें, अपने की चिन्तन में समग्रता,

फैलाव लायें। 6 के आगे 3 रखें अर्थात् 63 शलाका पुरुष विश्वशान्ति के प्रतीक हैं। और यदि विपरीत करें 3 के आगे 6 का आँकड़ा बन जाता है। दोनों मुँह देखने के बदले पीठ किये हैं, यह कलह का प्रतीक है। जब मुँह देखते हैं तो 63 बनता है। मुँह देखोगे तो गले लगने की स्थिति बनेगी।

विनाद प्रियता:- क्रोध की स्थिति, कलह की स्थिति बनती दिखे तो उसे विनोद से बदला जा सकता है। किसी को क्रोध आया है। वह आपको खरी खोटी सुना रहा हो तब समयानुकूल विनोद से उसका क्रोध शान्त हो सकता है। विनोद प्रिय होने की पहली आवश्यकता है शान्त रहने की तथा यह ध्यान रखने कि अगला व्यक्ति क्रोध में है।

आचार्यश्री वारासिवनी में थे उस समय का एक प्रसंग है। मन्दिर में आचार्यश्री से कुछ श्रावक चर्चा कर रहे थे। अचानक एक सम्भ्रान्त से युवक ने बिना किसी भूमिका के आचार्यश्री से पूछा- ''महाराज जी What is your business?'' प्रश्न बेतुका था और उस समय उसका कोई तारतम्य, औचित्य नहीं था। वहाँ उपस्थित लोग कुछ प्रतिक्रिया कर पाते, उसके पहले ही आचार्यश्री ने कहा- Busyness is my business व्यस्तता ही मेरा व्यवसाय है। सारा वातावरण प्रफुल्लित हो गया। यह है विनोद प्रियता। हास्य और विनोद में अन्तर होता है। विनोद का अभिप्राय क्रोध को दूर करने का है। हास्य करना, हँसी उड़ाने का अभिप्राय तो कलह का कारण बनता है। इसीलिए कहा-

''झगड़े की जड़ हाँसी और रोग की जड़ खाँसी''

एक पति-पत्नी में किसी बात पर बहस हो गई। विवाद इतना बढ़ गया कि पत्नी रुष्ट हो गई और कह दिया- ''लो सम्हालो अपना घर, मैं मायके जा रही हूँ।'' पति समझ गया कि मामला गम्भीर हो गया है। उसने अपना रुख एकदम से नरम कर दिया और कहा-''बिल्कुल ठीक है, तुम मायके चली जाओ हम भी ससुराल घूम आयेंगे और पप्पू भी ननिहाल रह आयेगा।''इस तरह विनोद से टकराव को टाला जा सकता है।

मौन:- कलह को टालने का सरल उपाय है- मौन। नीतिकार कहते हैं **''मौनेन कहो नास्ति''** मौन धारण करने से कलह नहीं होती। जहाँ कहीं भी

कलह की संभावना दिखे वहाँ मौन धारण कर लेना चाहिए, क्योंकि उस परिस्थिति में कुछ भी बोलना आग में घी डालना है। जबकि उस समय धारण किया गया मौन शीतल जल का काम करता है। कोई व्यक्ति कितना भी झगड़ने के मूड में हो यदि उसकी बात को कोई जबाव ने दिया जाए तो अपने आप शान्त हो जाएगा। आखिर वो अकेला कब तक लड़ेगा? सन्त कहते हैं, कलह की परिस्थिति में मौन धारण करने से चित्त शान्त होता है, चित्त की शान्ति से चिन्तन में मोड़ आ सकता है। अतः मौन धारण करना सबसे अच्छा तरीका है। जो बात वचनों से नहीं बन सकती वह मौन से सध सकती है एक अंग्रेजी विचारक ने बड़ी संगत बात लिखी है–

Speech is gold but silence is golden

बोलना स्वर्ण है किन्तु मौन स्वर्ण निर्मित सुन्दर आभूषण है।

वाद–विवाद करने से मनुष्य–मनुष्य में कलह हो जाता है, कटुता बढ़ती है किन्तु सबको सहता हुआ मनुष्य यदि मौन धारण कर ले तो वह निश्चिन्त होकर जीवन जी सकता है।

क्षमा की आज आराधना की है। अब उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न करें। क्रोध का अभाव करने का प्रयास करें। बैर व विरोध की गाँठ न बँधने दें। हमारे मन से बैर के, विरोध के संस्कार दूर हों तथा

''खम्मामि सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ति मे सव्वभूदेसु, बेरं मज्झं ण केण वि।

अर्थात् मैं सभी जीवों का क्षमा करता हूँ, सभी जीव मुझे क्षमा करें, सब जीवों के प्रति मेरे मन में मैत्री हो, किसी के प्रति भी बैर न हो।''

यह भावना अन्तर में प्रगट हो तो तभी अपने जीवन का उद्धार कर पायेंगे। हमारा यथासम्भव प्रयास हो, किसी से कलह न हो। कदाचित् हो जाये तो तत्काल उसका निवारण कर दें। उसे बैर में परिणत न होने दें। यही गृहस्थ की उत्तम क्षमा है।

करें मान का मर्दन

एक अंगीठी सुलग रही थी। लाल-लाल अंगारे उसमें दहक रहे थे। बड़ा तेज और कान्ति थी उनमें। तभी एक अंगार के मन में यह अभिमान उमड़ा कि ''मैं इतना कान्तिमान हूँ, मुझमें इतना तेज है, तो फिर मैं इस अंगीठी में क्यों रहूँ?'' यह उचट कर नीचे आ गया। फिर क्या था। धीरे-धीरे उसका तेज घटने लगा, उसकी आभा क्षीण होने लगी। उसके ऊपर राख की परत छाने लगी, धीरे-धीरे वह काला पड़ गया। अहंकार की यही परिणति है।

जीवन के विकास के लिए 'अहं' का विसर्जन अनिवार्य है, आज का 'मार्दव धर्म' हमें यही सन्देश देता है। मार्दव धर्म का अर्थ है-अहंकार का अभाव, विनम्रता का सद्भाव। आखिर ये अहंकार है क्या- ''**अहं करोमीति अहंकार:**'' मैं कुछ करता हूँ, यह भाव ही अहंकार है। आज हर व्यक्ति अपने आपको जगत् का कर्त्ता मानकर चलता है। वह कर्तृत्व, भोक्तृत्व और स्वामित्व की बुद्धि में जीता है। इस बुद्धि से ग्रसित होने के कारण वह जगत् के सारे कार्यों को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है। उसकी यह सोच बन जाती है कि ''मैं ही सब कुछ करता हूँ।'' घर चलाता हूँ तो 'मैं', परिवार तो 'मैं', समाज चलाता हूँ तो 'मैं', देश तो 'मैं'। मेरे बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता। बस यही 'अहंकार' है। ऐसे अहंकारियों की परिणति को देखकर संत कहते हैं।

एक बार एक बैलगाड़ी चली जा रही थी। उसके नीचे एक कुत्त भी चल रहा था। उसके साथी कुत्ते ने उसे देखकर पूछा ''क्यों भाई! कहाँ जा रहे हो?'' कुत्ते ने जबाव दिया- ''दिखता नहीं है मैं बैलगाड़ी खींचकर ले जा रहा हूँ।'' अरे वाह! तुम बैलगाड़ी खींच रहे हो कि बैल खींच रहे हैं? फालतू बात मत कर। कुत्ते ने कहा ''मैं कह रहा हूँ। देखो अगर मैं रुकूँगा तो गाड़ी भी रुक जायेगी।'' कुत्ता रुका। संयोग से गाड़ी भी रुक गई। कुत्ते ने अकड़ कर कहा देखा! मैं रुका तो गाड़ी भी रुक गई। अब मैं चलूँगा तो गाड़ी भी चल पड़ेगी। वह चला और संयोग से गाड़ी भी चल पड़ी। कुत्ता अपने अभिमान में फूल गया।

अहंकारी आदमी की कुछ ऐसी ही प्रकृति होती है। मैं ही सबको चलाता

हूँ। मेरे बिना कुछ हो ही नहीं सकता। पर बन्धुओं! ऐसी मैं-मैं की रटना लगाने वाले अनेक लोग इस दुनियाँ से चले गये, उसके बाद भी किसी का काम नहीं रुका। संसार के जितने भी क्रियाकलाप हैं, सब अपने-अपने नियमों के अनुरूप होते रहते हैं, किसी के रोके कुछ रुकता नहीं और किसी के लिए कुछ होता नहीं। हम एक दूसरे के लिए निमित्त हो सकते हैं, पर कर्ता नहीं। अहंकार को तिरोहित करने के लिए विश्व व्यवस्था में अपनी भूमिका को समझने की आावश्यकता है। जगत् में जो कुछ भी घटित होता है, उसमें पूरी प्रकृति की भागीदारी है। हम तो उसके एक घटक मात्र हैं। घटक तो घटक होता है, कार्य का जनक नहीं। घटक जब तक घटक के रूप में रहता है, तब तक सब कुछ ठीक रहता है, लेकिन कोई घटक अपने आप को ही सर्वस्व मान ले तो सब कुछ गड़बड़ हो जाता है। प्रत्येक घटक समान है, इस समानता की प्रतीति ही 'मार्दव धर्म' है।

व्यक्ति सामान्य बनकर जीना पसन्द नहीं करता, वह कुछ विशेष चाहता है। यही भाव अहंकार को जन्म देता है।

एक शिष्य ने अपने गुरु से पूछा- ''गुरुदेव! जगत् में सबसे उत्तम क्या है?'' गुरु ने जबाव दिया- 'मैं'। सबमें अनुत्तम क्या है? शिष्य ने पुनः जिज्ञासा प्रकट की। गुरु ने कहा-'मैं'। 'मैं' ही उत्तम और 'मैं' ही अनुत्तम कैसे, शिष्य आश्चर्य में पड़ गया। गुरु ने रहस्य उद्घाटित करते हुए कहा कि- 'मैं'जब तक मैं तक सीमित रहता है तब तक वह उत्तम है। यहाँ 'मैं' का स्वरूप बोधक है। 'मैं' का अर्थ है 'आत्मा'। स्वरूपनिष्ठ मैं आत्मप्रतीति का आधार है। सन्त कहते हैं कि ''अहं ही करना हो तो अपने स्वरूप का करो, अहं से अर्हं बन जाओगे। लेकिन 'मैं' के साथ जब कुछ जुड़ता है तो वह बहुत खतरनाक बन जाता है। 'कुछ' विशेषण लगते ही अहंकार खड़ा हो जाता है। आदमी अपने आपको मैं तक सीमित नहीं रख पाता। मैं कुछ हूँ ''I am some thing'' यही प्रतीति अहंकार है। 'मैं हूँ' यह निर्दोष अभिव्यक्ति है, पर 'मैं कुछ हूँ' यह 'कुछ' शब्द जुड़ा और अहं का रूप बदल गया।

आज आदमी अपने आपको 'मैं' तक सीमित नहीं रखता। वह स्वयं को विशेषणों के साथ प्रस्तुत करता है। मैं धनी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं नेता हूँ, मन्त्री हूँ,

अधिकारी हूँ, मेरी कार है, बंगला है, फैक्ट्री है, ऐश्वर्य है, प्रतिष्ठा है। सन्त कहते हैं यह मैं और मेरा पन ही, जिसे अध्यात्म की भाषा में अहंकार और ममकार कहते हैं, जीवन में दुःखों का सबसे बड़ा कारण है।

आज हर आदमी अपने अहं की पुष्टि में पागल है। वह चाहता है कि मैं दुनियाँ का सबसे बड़ा आदमी बन जाऊँ। सन्त कहते हैं बड़ा आदमी बनकर क्या करोगे? भला आदमी बन जाओ तुम्हारा उद्धार हो जाएगा। आज जो बड़ा आदमी बनने की कोशिश में है, वह किसी पद और प्रतिष्ठा को पाने में लगा है। आज धन, वैभव, पद और प्रतिष्ठा ही आदमी के बड़ा होने प्रतिमान बनकर रह गये हैं। जिसके पास जितना अधिक धन हो, वैभव हो, जितना ऊँचा पद और प्रतिष्ठा है दुनिया में वह उतना ही बड़ा आदमी माना जाता है। दुनियाँ की नजरों में वह भले ही बड़ा आदमी हो पर परमार्थतः नहीं। ऐसे लोगों का बड़ा बनना तो वैसे ही है जैसे बच्चे कभी-कभी कुर्सी पर खड़े होजाते हैं और कहते हैं ''पिताजी देखो! मैं कितना बड़ा हो गया। आपसे भी बड़ा हो गया। पिताजी कहते हैं, हाँ बेटा! तू मुझसे भी बड़ा हो गया, पर अन्दर ही अन्दर हँसते हैं। जब तुम कुर्सी से नीचे उतरोगे तब तुम्हें अपनी औकात समझ में आएगी।''

आज आदमी को कुर्सी क्या मिल जाती है? वह आसमान पर चढ़ जाता है। सीधे मुँह बात ही नहीं करता। उसके इस गरूर पर सन्त हँसते हैं कि बेटे! जिस दिन कुर्सी से उतरोगे तुम्हारे नाम के साथ भूत और लग जायेगा। तब समझ में आ जाएगी तुम्हें तुम्हारी औकात। पर हर आदमी कुर्सी के पीछे भागता है। वह कुर्सी कसे वकड़ने की कोशिश में है। आज तो हर आदमी दिल्ली की दौड़ में है। किसी भी प्रकार से वह दिल्ली पहुँच जाए तो समझना 'मोक्ष' पहुँच गया। कुर्सी के पीछे तो ऐसे चिपकते हैं कि बैठ जाएँ तो उठने का नाम नहीं लेते। कुर्सी का चक्कर ही कुछ ऐसा है।

चुनावी माहौल था। मैंने एक कार्टून देखा, बड़ा अच्छा कार्टून था। आज सुनाने का मन हो रहा है। कार्टून में एक कुर्सी थी और उस कुर्सी के चारों पायों को दस-दस आदमी खींच रहे थे। अगर एक कुर्सी को चालीस आदमी खीचें तो क्या होगा? नतीजा ये निकला कि कुर्सी जहाँ की तहाँ रही और उसके चारों पाये लट्ठ

की तरह चारों के हाथ में आ गये। बगल में एक बैंच बनाया गया था, उस पर लिखा था–''सबका समाधान मैं हूँ।'' कुर्सी की जगह अगर बैंच रख दी जाये तो सब ठीक हो जाएगा। लेकिन बैंच पर आदमी बैठना पसन्द नहीं करता। क्योंकि वहाँ चार–पाँच के साथ बैठना पड़ता है। कुर्सी अकेले का मिलती है। आदमी का अहंकार उसे अकेले बैठने का कहता है। पर बन्धुओं कुर्सी किसी की शाश्वत नहीं है। जीवन का विकास किसी आसन से नहीं होता, आचरण से जो कुछ भी अर्जित किया जाता है वही हमारी आत्मा शाश्वत सत्ता को उपलब्ध कर सकती है। मार्दव धर्म हमें अपने जीवन को किसी कुर्सी पर खड़ा करके बड़ा नहीं करता। मार्दव धर्म हमारी आत्मा को गहराई में उतारकर उसे मजबूत बनाने की प्रेरणा देता है। एक बीज धरती के गर्भ में जब समा जाता है, अंकुर फूटता है, उसकी विकास यात्रा प्रारम्भ होती है। वह जितना ऊँचा उठता है, उतना नीचे भी जाता है। जितनी गहराई में वह नीचे उतरता है उतना ही उसका विकास होता जाता है। जिसके जीवन में जितनी अधिक लघुता प्रकट होती है, वह उतना ही प्रभुता सम्पन्न हो जाता है। जो जितना विनम्र होता है, वह उतना अधिक महान् होता जाता है।

लघुता ते प्रभुता मिले , प्रभुता ते प्रभु दूरि।
चीटी ले शक्क र चले, हाथी के सिर धूरि।।

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हम सबके चित्त में आठ फन वाला एक भयंकर विषधर बैठा है जो कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, बल, वैभव और ऐश्वर्य के अभियान से आत्मा को जड़ताक्रान्त कर रहा है। इनके अधीन हो मनुष्य अपना सर्वस्व गवाँ रहा है। मार्दव धर्म इनसे बचने की प्रेरणा देता है। इन पर अभियान करना अज्ञान है। ये सब आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव हैं, क्षणक्षयी हैं, कर्माधीन हैं, पराधीन हैं। जो आत्मस्वरूप नहीं, अपना नहीं उस पर कैसा अभिमान? कुल, जाति, रूप, धन, वैभव, ऐश्वर्य आदि के सहारे अपने आपको ऊँचा उठाने की कामना अज्ञान है, इसका परिणाम सदैव बुरा होता है।

जलधर नया–नया आया
और,
पवन के सहारे
ऊँचे आसमान पर चढ़ गया,

पर,
उसे बाहरी जगत् का
अनुभव ही कब था।
दूसरों के सहारे ऊँचा उठना
भय से खाली नहीं होता,
इसे वह नहीं जानता था,
पवन ने अपना हाथ खींचा
और
जलधर नीचे आ गया।

सन्त कहते हैं कि पर के सहारे अपने आपको उठाना चाहोगे तो यही परिणति होगी। जीवन का यथार्थ ऊँचाई प्रदान करना चाहते तो आत्मगुणों का विकास करो।

कुल/जाति मद

कुल और जाति मद व्यक्ति के अन्दर जातीय अभिमान भर देता है। किस कुल का मद करते हो, किसका कुल ऊँचा है ? मेरा कुल बड़ा ऊँचा हैं ? अरे! सोच तो लो बड़े-बड़े तीर्थंकर महापुरुष और परमात्मा भी हुए हैं, उन्हें भी कभी पशु की पर्याय में जन्म लेना पड़ा है। एक इन्द्रिय की पर्याय को भी भोगना पड़ा है। किसी का कुल शाश्वत नहीं है। आज अगर तुम उच्च कुल में हो तो कल नीच कुल में भी जन्म लेना पड़ सकता है। आज तुम अपनी उच्चता के अभिमान में दूसरे को तुच्छ समझ रहे हो, कल तुम्हारा जीवन भी तुच्छ हो सकता है। और जिसे तुम आज तुच्छ मान रहे हो कल वह सर्वोच्च पद पर भी आसीन हो सकता है। आगम में तो यह बताया गया है कि एक निगोदिया प्राणी भी अगर मनुष्य होता है तो अपनी साधना के बल पर उसी भव में मोक्ष जा सकता है, और हम अपने उच्चता के दर्प में जहाँ के तहाँ रह सकते हैं।

बन्धुओं, उच्च तो वह है जिसका आचरण श्रेष्ठ है। जिसका आचरण उच्च है वही व्यक्ति उच्च कुल में बैठने का अधिकारी है। अकेले उच्च कुल में जन्म लेने का क्या अर्थ? शिखर पर बैठने से कौआ कभी भगवान् नहीं बन

सकता। बन्धुओं, अगर तुम्हें पवित्र कुल में जन्म लेने का सौभाग्य मिला है तो अभिमान मत करो, अपितु उसकी गरिमा को बचाते हुए अपने आचरण में पवित्रता लाओ। पवित्रता किसी की बपौती नहीं है। कोईभी व्यक्ति अपने आचरण की पवित्रता से जीवन का उत्थान कर सकता है। पद्मपुराण में उल्लेख आता है–

न जाति गर्हिता कश्चिद् गुणा कल्याण कारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।।

अर्थात् कोई जाति निन्दनीय नहीं है, गुण कल्याण का कारण है। चाण्डाल भी व्रत धारण करने पर ब्राह्मण बन सकता है।

किसी जीव की कब कैसी परिणति हो जाये कहा नहीं जा सकता, एक आदमी चला आ रहा था। अचानक एक पत्थर उसके पैरों से टकराकर पास खड़े गुलाब के पौधे से जा लगा। गुलाब के फूल ने यह दशा देखी तो व्यंग्य से हँस पड़ा और उपहास मिश्रित शब्दों में पत्थर को घूरते हुए कहा– ''हूँ..... ये भी कोई जिन्दगी है.....! सिर्फ ठोकर।''

पत्थर अपनी स्थिति को जानता था उसने फूल के यह शब्द सुने तो मर्माहत हो उठा। पर कहा कुछ भी नहीं।

कहते हैं कि एक दिन घूरे के भी दिन फिरते हैं। थोड़ी देर बाद एक दूसरा आदमी उधर से गुजरा। उसकी नजर उस पत्थर पर पड़ी। वह शिल्पी था। पहली ही नजर में उसनें पत्थर में छिपी अपार सम्भावनाओं को जान लिया, और हर्ष से भरकर उसे उठा लिया। उसने उसे घर लाकर तराशना शुरू किया और उससे एक सुन्दर प्रतिमा बनाकर अपने पूजा घर में विराजमान कर दिया।

अगले दिन उसने उस प्रतिमा की पहली पूजा की। पहली पूजा में उसने जो फूल चढ़ाया वह वही था, जो कल तक इस पत्थर का उपहास कर रहा था। उसने पत्थर का यह रूप देखा तो शर्म से झुक गया। प्रतिमा खड़ी–खड़ी मुस्कुरा रही थी

''जो आज एक अनाथ है, नर नाथ कल होता वही।
जो आज उत्सव मग्न है, कल शोक कर रोता वही।।''

हर व्यक्ति पत्थर की तरह अपने अन्दर से भगवत्ता को प्रकट कर सकता है। अभिमान करना है तो भीतर बैठी भगवत्ता का करो। पर बन्धुओं जिसनें प्रत्येक सत्ता में विराज भगवत्ता को जान लिया, वह फिर कभी अभिमान कर ही नहीं सकता। उस विराट् तत्त्व को जानने की जरूरत है। दुर्योधन के अन्दर अभिमान तभी तक था जब तक उसने श्रीकृष्ण के विराट् स्वरूप को नहीं देखा। जिस क्षण उसने श्रीकृष्ण के विराट् स्वरूप को देखा उसका सारा अभिमान तिरोहित हो गया। अभिमान को तिरोहित करने का एक ही मार्ग है हम विराट् का दर्शन करें, प्रत्येक प्राणी में भगवत्ता का अहसास करें, प्रत्येक आत्मा में 'परमात्मा' है इस भाव बोध से भरें। हमारा अहंकार अपने आप दूर हो जायेगा।

रूपमद

व्यक्ति थोड़ा सा रूप क्या पा लेता है, आकाश में उड़ने लगता है। इतराकर बातें करना शुरू कर देता है। धरती पर पैर नहीं पड़ते। मेरे जैसा रूप तो किसी का है ही नहीं। मैं कितना सुदर हूँ, जब मैं सड़क पर चलता हूँ तो हर व्यक्ति की दृष्टि मेरी तरफ आ जाती है। ''तुमने देखा नहीं जब मैं सजधज कर भगवान् के दर्शन करने जाता हूँ तो एक बार लोगों का ध्यान पूजा से हटकर मेरी तरफ आकर्षित हो जाता है।''

किस रूप पर अभिमान कर रहे हो? थोड़ा विचार करो, अपने जिस रूप पर आज इतना इतरा रहे हो, पच्चीस साल आगे के रूप को देखोगे तो तुम्हारे चेहरे पर सत्रह सौ साठ झुर्रिया दिखाई देंगी और थोड़ा और आगे जाकर

देखोगे तो तुम्हारा यह सुन्दर सलौना रूप चिता पर सुलगता हुआ दिखाई देगा। किस रूप पर इतराते हो? जिस-जिस ने भी अपने स्वरूप को भूलकर रूप पर अभिमान किया है, उसकी अन्तिम परिणति यही रही है। पर क्या बताऊँ बन्धुओं, आज तो भगवान् के दर्शन करने के लिए, जहाँ लोग स्वरूप बोध के लिए जाते हैं, वहाँ भी हमारा ध्यान रूप पर ही टिका रहता है। मन्दिर में दस मिनट के लिए आते हैं और मन्दिर की तैयारी में ड्रेसिंग टेबिल पर बीस मिनट लगाते हैं। आखिर ऐसा क्यों? मैं तो समझता हूँ कि आज मन्दिरों और धार्मिक कार्यक्रमों में जो लोग इतना सजधज कर आते हैं, वे एक समस्या की पूर्ति करते

हैं। ग्रन्थों में यह बताया गया है कि इस काल में स्वर्ग के देव नहीं आते, मै समझता हूँ इसी समस्या की पूर्ति के कारण लोग स्वयं अपने आपको देवी-देवता बनाकर भगवान् के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। पर बन्धुओं थोड़ा सोचो तो-

होड़ देवों से लगाई, मनुज बनना न सीखा ।
विश्व का वामन पगों से मापने की कामना है।।

रूप के अभिमान के सम्बन्ध में चक्रवर्ती सनतकुमार का प्रसंग बड़ा उत्प्रेरक है। सनतकुमार चक्रवर्ती बड़े रूपवान थे कामदेव सा रूप था उनका। स्वर्ग के देव भी उनके रूप पर मुग्ध थे। एक दिन देवराज इन्द्र ने अपनी सभा में सनतकुमार चक्रवर्ती के रूप की प्रशंसा करते हुए कहा कि-मध्यलोक में सनतकुमार चक्रवर्ती के समान रूपवान कोई नहीं है। इन्द्रसभा में विराजित एक देव के मन में कौतूहल जागा। उसने सोचा- आखिर ऐसा कैसा रूप है जिसकी देवराज प्रशंसा कर रहे हैं। चलकर अवलोकन करना चाहिए।

देव मर्त्यलोक में आकर सनतकुमार चक्रवर्ती के यहाँ पहुँचा। उस समय चक्रवर्ती व्यायाम कर रहे थे। धूल धूसरित कञ्चन सम काया से अप्रतिम सौन्दर्य झलक रहा था। देव भी चक्रवर्ती का यह रूप देखकर मुग्ध हो गया, और प्रकट होकर चक्रवर्ती के रूप की प्रशंसा करते हुए कहा-''चक्रवर्ती तुम धन्य हो, तुम्हारे जैसा रूपवान इस धरती पर कोई नहीं है इसीलिए देवराज इन्द्र भी तुम्हारी प्रशंसा करते हैं।'' देव ने अपने आगमन की कथा सुना दी। देव की प्रशंसा सुनकर चक्रवर्ती के मन में रूप का अभिमान उमड़ पड़ा। उसने कहा-''अभी तो आपने मेरे धूल धूसरित रूप को देखा है। यदि आप मेरा असली रूप देखना चाहते हो तो राजदरबार में उपस्थित होकर देखें।''

अगले दिन चक्रवर्ती सजधज कर राज सिंहासन पर आरूढ़ होकर देवता के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। देव राजसभा में उपस्थित हुआ। उसने चक्रवर्ती के रूप को देखा। राजा का सौन्दर्य उसके अंग-अंग से छिटक रहा था। फिर भी देव ने प्रशंसा में एक शब्द भी नहीं कहा। चक्रवर्ती का बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने देव से पूछा कि ''क्या तुम्हें हमारा रूप अच्छा नहीं लगा? देव ने कहा''-हाँ राजन्! जैसा रूप मैंने कल देखा था वो आज नहीं दिख रहा है। आज तुम्हारी इस

सुन्दर काया के अन्दर मुझे कुष्ठ के कीटाणु दिख रहे हैं। कुष्ठ- कैसा कुष्ठ! राजा अवाक् रह गया। अपनी बात को जारी रखते हुए देव ने एक गिलास में पानी मँगवाकर चक्रवर्ती से उसमें थूकने को कहा। चक्रवर्ती ने जैसे ही गिलास में थूका उसे कीड़े बिलबिलाते हुए दिखे। उसका चिन्तन अन्तर्मुख हो गया। उसकी दृष्टि रूप से हटकर स्वरूप पर केन्द्रित हो गई। उसे समझ में आ गया जिस रूप पर मनुष्य इतना इठलाता है वह कितना नश्वर है। स्वरूप बोध होते ही चक्रवर्ती ने दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली।

सन्त कहते हैं- रूप नहीं, स्वरूप का सत्कार करो। किस रूप पर मुग्ध होते हो? मक्खी के पंख से भी पतली शरीर की एक परत को उतारते ही सुन्दर सलौना दिखाई पड़ने वाला यह शरीर घृणा की चीज बन जाएगा। अतः शरीर के रूप की नहीं स्वरूप की चिन्ता करें। आचार्यश्री कहते हैं- **दीप का नहीं, ज्योति का, सीप का नहीं, मोती का सत्कार करना चाहिए।** आचार्य कुन्द-कुन्द कहते हैं- ''जगत् में सबसे सुन्दर अपना आत्मस्वरूप है। उसका ही सत्कार करो।'' कवि ने ठीक कहा है-

मत रूप निहारो दर्पण में, दर्पण गंदला हो जाएगा।
निजरूप निहारो अन्तर में, अन्तर उजला हो जाएगा।।

रूप के अभिमान के सम्बन्ध में एक विचारक ने बड़ी अच्छी बात लिखी है-

हरी-भरी कोमल कलियों और सुन्दर सुमनों के गुच्छों से लदी टहनियों ने तने से कहा- ''हम कितने सुन्दर हैं?'' प्रश्न की प्रतिक्रिया को भीतर ही पचाकर, संयत स्वर में तने ने कहा- ''हाँ बेटी तुम बहुत सुन्दर हो।''

सौन्दर्य का दर्प इससे तृप्त न हो पाया। वह अपनी महत्ता का स्वीकार तो चाहता ही है, दूसरे की हीनता स्वीकृति भी आवश्यक मानता है।

''और तुम कितने कुरूप हो जी! काला भूत सा रंग और खुरदरी खाल। छिः!''

प्रतिक्रिया कण्ठ तक भर आई। फिर भी अपने आपको यथासम्भव

मसोसकर तने ने कहा- ''हाँ बेटी! मुझमें सौन्दर्य नहीं है, पर जिस सौन्दर्य पर तुम इतना इतरा रही हो उसके आधार रस का भण्डार प्रकृति ने मुझे ही दिया है। मैं उसका झूठन तुम्हें न दूँ, तो तुम्हारा सौन्दर्य कुछ ही पलों में बिखर जाये।''

ऐश्वर्यमद

व्यक्ति अगर थोड़ा सा ऐश्वर्य पा ले तो ऐसा इतराता है मानो दुनियाँ में उस जैसा कोई है ही नहीं। पर बन्धुओं जो दुनियाँ में अपने आप को बड़ा मानता है उससे छोटा कोई है ही नहीं। आचार्यश्री ने बड़ी अच्छी बात लिखी है कि-

जो मानता स्वयं को सबसे बड़ा है।
वह धर्म से बहुत दूर अभी खड़ा है।।

ऐश्वर्य पर इतराने वाले लोग ईश्वर को भूल जाते हैं। जो ईश्वर की आराधना करते हैं वो अपने जीवन के परम ऐश्वर्य पर ध्यान रखते हैं, बाहरी ऐश्वर्य पर नहीं। वो यही मानते हैं कि बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली लोगों का ऐश्वर्य भी नहीं रहा, चक्रवर्तियों का ठाट-बाट भी नहीं रहा। रावण के पास कोई ऐश्वर्य की कमी नहीं थी, बड़ा अभिमान था उसे अपने ऐश्वर्य पर। लेकिन लंका की ईंट से ईंट बज गई। आज उसका कोई नाम लेना पसन्द नहीं करता। ''लख पूत सवा लख नाती ताके घर में दिया न बाती'' की कहावत सुनने को मिलती है।

किसी सन्त के पास एक आदमी पहुँचा। लम्बी-चौड़ी जागीरदारी थी उसकी। उसने अपने वैभव का बखान करना शुरू कर दिया। सन्त उसकी बात को सुनकर ऊब चुके थे। उन्होंने एटलस मँगवाया और उस जागीरदार के सामने रखते हुए पूछा- ''ये बताओ, इस नक्शे में तुम्हारी जागीरदारी कहाँ है?'' उस व्यक्ति की आँख खुल गई। उसे समझ में आ गया कि मेरा अभिमान व्यर्थ है। पर क्या बताऊँ, ऊँट जब पहाड़ के नीचे आता है तभी उसे अपनी औकात का पता चलता है, यही उसका अज्ञान है। तुम्हारा वैभव तुम्हारे साथ जाने वाला नहीं है।

सिवाय नाम के बाकी असर निशां से न थे।
जमीं से दब गये झुकते जो आसमां से न थे।।

हर आदमी अभिमान में अकड़कर ऊँचे आसमान पर चढ़ना चाहता है।

पर आज तक का इतिहास हमें यही बताता है कि जिस-जिस ने आसमान पर चढ़ने की कोशिश की है सभी को जमींदोज होना पड़ा है।

बल का मद

आदमी के पास थोड़ा सा बल आ जाता है तो वह अपने अभिमान में इतना चूर हो जाता है मानों उसके बराबर कोई है ही नहीं। आज तो आदमी के शरीर में बल रहा ही नहीं। अब तो छल बल, धन बल और सत्त बल बचा है। कितना भी बल हो, कालबली के सामने किसी की नहीं चलती। कालबली सबसे बड़ा बली है। बड़े-बड़े बाहुबली भी कालबली के सामने हार जाते हैं। तब फिर तुम किस बल का गर्व करते हो। विचार करो, तुम्हारा बल है क्या? गामा पहलवान इतना बड़ा पहलवान था, लेकिन उसकी अन्तिम परिणति क्या हुई? आपको याद है। वह इतना असक्त हो गया कि अपने शरीर पर बैठी मक्खी को भी भगाने में लाचार हो गया। किस बल पर इतराते हो? जब तक मौत नहीं आती तब तक तुम्हारा ये बल दिखाई पड़ रहा है, जिस क्षण मौत आ जाये उस क्षण सब खत्म हो जाएगा। लेकिन क्या कहें। हमने देखा एक साँप मेंढ़क को निगल रहा था, मेंढ़क अभी आधा बाहर था, उसने मछली को देखा और टर्राना शुरू कर दिया। आज आदमी इसी तरह टर्रा रहा है। काल के गाल में हम दबे हुए हैं। जब तक टर्राना है, टर्रा लो,। जिस क्षण काल का मुँह दबा, तुम्हारा सारा टर्राना बन्द हो जायेगा। विचार कर लो, क्या करोगे-

''जब तलक दम था, झुके न आसमां से हम।
जब दम निकल गया तो जमीं ने दबा लिया।।''

दम जब तक था तब तक तो आसमां से नहीं झुके, दम निकल गया हो व्यक्ति को इसी जमीन ने दबा लिया। एक दिन ऐसा आयेगा जब तुम्हें जमीन से दबना पड़ेगा। इसलिए बल का भी अहंकार न करो।

ज्ञान मद

'ज्ञान' का मद भी बहुत खतरनाक है। वैसे 'ज्ञान' हमारे मद और दर्प को दूर करने का साधन है। ज्ञान पाकर मद करना बहुत बड़ी बिडम्बना है। सच्चा

ज्ञानी विनम्र होता है। विनम्रता ज्ञानी की पहचान है, और दम्भ अज्ञान की परिणति। भर्तृहरि ने लिखा है- ''जब मैं बहुत थोड़ा सा जानता था तब हाथी के समान मद से अन्धा हो रहा था। मैं समझता था कि मैं सर्वज्ञ हूँ। किन्तु मुझे बुद्धिमानों की संगति में रहने से जब कुछ ज्ञान हुआ तब मैं समझा कि मैं तो कुछ भी नहीं जानता। उस समय मेरा झूठा मद ज्वर की तरह उतर गया।''

अज्ञानी थोड़ा ज्ञान पाकर अपने आप को बहुत बड़ा ज्ञान मानने लगता है। वह सर्वत्र अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करता है। और जहाँ उसे योग्य अवसर नहीं मिलता वह भीतर से तिलमिला जाता है। एक पण्डित नाव से नदी पार कर रहा था नाव में उसे और नाविक के अलावा कोई नहीं था। पण्डित जी से समय नहीं कट रहा था। उन्होंने नाविक से पूछा-''क्यों भाई! तुम्हें व्याकरण आता है?'' हुजूर! ये व्याकरण किस चिड़िया का नाम है? ''नाविक ने प्रति प्रश्न किया। पण्डित जी ने कहा कि तुम व्याकरण नहीं जानते हो तो तुम्हारी चार आना जिन्दगी गई। अच्छा ये बताओ तुम्हें ज्योतिष आता है?'' हुजूर! हम तो ज्योतिष भी नहीं जानते। ''तब तो तुम्हारी आठ आना जिन्दगी गई। नाविक मन मसोस कर रह गया। अचानक नदी में हलचल सी हुई, तेज भँवर उत्पन्न हुआ और नाव का सन्तुलन बिगड़ गया। नाविक ने पूछा''-पण्डित जी! आपको तैरना आता है? ''पण्डित जी ने कहा-'नहीं'। तो सम्हालो अपने आपको, तुम्हारी सोलह आने जिन्दगी गई। इतना कहकर नाविक ने छलांग लगा दी और तैरकर पार हो गया। पण्डित जी वहीं डूब गये। अभिमान जो न कराये थोड़ा है।

तप मद

मैं बड़ा तपस्वी हूँ, मेरे बराबर तप करने वाला संसार में कोई दूसरा नहीं है, और जितने भी तपस्वी हैं मेरे आगे लगते कहाँ हैं, ऐसी परिणति तप मद है। सन्त कहते हैं- किस तप का अभिमान करते हो? सबसे बड़ा तप तो अपने अभिमान को गलाना है। अभिमान को गलाये बिना किया गया तप, तप नहीं,'' वह तो शरीर सुखाने की क्रिया मात्र है। तप का उद्देश्य आत्मा की पवित्रता है। वह क्रोध, मान, मद, मत्सर आदि वैभाविक भावों की शुद्धि से ही सम्भव है। इसलिए सच्चे तपस्वी मद नहीं करते, वे तो विनम्रता की प्रतिमूर्ति होते हैं। चारित्र

चक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर महाराज से किसी ने पूछा–''महाराज आपका परिचय?'' महाराज श्री ने जबाव दिया–''मनुष्य लोक में कुल तीन कम नौ करोड़ मुनिराज हैं, उनमें मेरा सबसे आखिरी स्थान है।'' यह होता है सच्चे तपस्वी का दृष्टिकोण।

धनमद

आदमी थोड़ा सा धन क्या पा लेता है, अपने–आपको दुनियाँ में सबसे बड़ा समझने लगता है। कहा गया है–

कनक–कनक ते सौ गुनि मादकता अधिकाय।
वा खाये बौराये नर ता पाये बौराय।।

धतूरा को कनक कहते हैं। आदमी इसे खाता है तो बौराने लगता है। इसी तरह कनक अर्थात् सोना(धन) को मनुष्य थोड़ा भी प्राप्त कर ले तो भी वह बौराने लगता है। दौलत का नशा आदमी के ऊपर बहुत बड़ा होता है। और जब व्यक्ति दौलत के नशे में अन्धा हो जाता है तो उसे कुछ सूझता नहीं है। अपने आपको बहुत बड़ा मानकर चलने लगता है। दौलत शब्द की आचार्य महाराज ने बड़ी व्याख्या की है– ''दौलत क्या है? दौलत के दो लात हैं। पहली लात तो जब वह आती है तो आदमी के सीने में लगाती है तो आदमी अकड़कर चलने लगता है, नीचे नहीं दिखता उसे। और दूसरी लात आदमी की पीठ पर लगाकर जाती है, जिससे आदमी झुक जाता है।'' ये दौलत है। किस दौलत पर अभिमान कर रहे हो? किसकी सम्पदा, किसकी दौलत, किसका वैभव रहा? सिकन्दर जैसा विश्व विजेता, जिसने अपार सम्पदा एकत्र की, लेकिन उसके साथ भी कुछ नहीं गया। सब कुछ यहीं का यहीं छूट गया और जाते वक्त वह हमारे लिए बहुत बड़ा सन्देश दे गया। कहते हैं कि सिकन्दर जब मर रहा था तब उसने अपने परिचारकों से कहा कि अब मैं मरूँगा, पर तुम इतना कर लो मुझे माँ से मिलने की इच्छा है, मेरी माँ से मिलने तक तुम मुझे बचा लो। उनके वैद्यों ने कहा– राजन् आपकी शारीरिक स्थिति इतनी क्षीण हो गई है कि अपकी माँ से मिलने तक आपको बचाने की गारण्टी नहीं दी जा सकती।''सिकन्दर ने कहा– ठीक है, मेरी माँ से मिलने तक नहीं बचा सकते तो कोई बात नहीं, मेरी माँ का यहाँ लाने तक मुझे बचा लो, मैं

तुम्हें आधा साम्राज्य दे दूँगा। तो उसके वैद्यों ने कहा–आधा क्या अगर आप पूरा साम्राज्य भी दे दें तो भी आपको बचाने की गारण्टी हम नहीं ले सकते। सिकन्दर की आँखे अन्दर ही अन्दर खुल गई। उसने कहा''–

''अब मैं चाहूँ भी तो रुक सकता नहीं दोस्त
कारण मंजिल ही खुद ढ़िग बढ़ती आती है।
मैं जितना पैर बढ़ाने की कोशिश करता
उतनी ही माटी और धसकती जाती है।
मेरे अधरों में घुला हलाहल है काला
नैनों में नंगी मौत खड़ी मुस्कराती है,
है राम नाम ही सत्य-असत्य सब और कुछ
बस यही ध्वनि कानों से आ टकराती है।''

अब मैं मरूँगा, मुझे इसका गम नहीं है। पर आज मुझे एक बात अच्छी तरह समझ में आ गई– ''जिस सत्ता और सम्पदा के पीछे मैंने अपने जीवन की सारी श्वासें खोयीं उन्हें दाँव पर लगाने के बाद भी वे मुझे एक श्वांस तक नहीं बचा सकती। धिक्कार है इस वैभव को, धिक्कार है इस हुकूमत को। मेरी सिर्फ यही अन्तिम इच्छा है कि मेरे मरने के बाद जब तुम मेरा जनाजा निकालो उस समय मेरे दोनों हाथ बाहर रखना ताकि दुनियाँ के लोग यह जान सकें कि सिकन्दर जैसा विश्व विजेता भी इस संसार से खाली हाथ जा रहा है।''

वस्तुतः धन, वैभव, पद–प्रतिष्ठा आदि जितने भी बाह्य संयोग हैं वे सभी आशाश्वत हैं, क्षण–क्षयी हैं। उन पर अहंकार करना हमारी अज्ञानता है। बाह्य संयोगों पर अहंकार करने की अपेक्षा उन्हें क्षणिक जानकर आत्मा के शाश्वत स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। आत्मसत्ता का भान होते ही अहंकार विगलित होने लगता है। मर्दव धर्म का मात्र यही सन्देश है कि हम बाह्य संयोगो के प्रति बढ़ते हुए अभिमान को कृश करें, आत्मा के स्वरूप को समझें और जीवन में विनम्रता को विकसित करें।

त्यागें मिथ्याचार

एक राजा एक बार माया नगरी में पहुँचा। वह वहाँ की यात्रा को यादगार बनाना चाहता था। उसने सोचा कि यहाँ से क्या क्रय किया जाए। मन्त्रियों से परामर्श करने पर मालूम पड़ा कि यहाँ एक प्रसिद्ध चित्रकार है। सभी ने सलाह दी कि इस चित्रकार से एक आदमकद चित्र बनवा लिया जाए, राज-दरबार की शोभा बढ़ेगी। राजा को बात पसन्द आ गई। वह चित्रकार से मिला। उसे अपना चित्र बनाने को कहा। चित्रकार ने राजा से पूछा- ''आप अपने किस रूप का चित्र बनवाना चाहते हैं?'' राजा का बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा- चित्र के भी क्या कोई रूप होते हैं, आप कौन-कौन से रूपों को चित्रित करते हैं? चित्रकार ने कहा- ''महाराज, मैं मनुष्य के चार रूपों को चित्रित करता हूँ। पहले चित्र में मैं मनुष्य के वास्तविक रूप को उतारता हूँ।'' उस चित्र में मनुष्य वैसा दिखता है, जैसा कि वह यथार्थतः होता है। दूसरे चित्र में मैं उसे बनाता हूँ, जैसा वह अपने बारे में सोचता है। तीसरे चित्र में आदमी के उस रूप को उतारता हूँ जो वह दूसरे के सामने दिखाना चाहता है। बड़ी डिमाण्ड रहती है इसकी। तथा चौथे चित्र में मैं मनुष्य का वह रूप बनाता हूँ, जिसे वह पाना चाहता है। चित्रकार की बात सुनकर राजा विस्मित रह गया। उसने कहा- ''मनुष्य के भी कितने रूप होते हैं! तुम पैसों की कोई चिन्ता न करो पर मेरा असली रूप चित्रित करो। मैं जैसा हूँ, वैसा ही दिखना चाहता हूँ।''

कितनी अच्छी बात कही राजा ने। किन्तु आज आदमी के अनेक रूप दिखते हैं। उसके जीवन व्यवहार में एक रूपता नहीं रहती। सुबह से शाम तक न जाने कितने रूप बदलते हैं। सुबह से शाम तक न जाने कितने रूप बदलते हैं। सुबह उठा तो कुछ, मन्दिर में पूजा करने गया तब कुछ, गुरुओं के सान्निध्य में कुछ, दुकान/दफ्तर में कुछ। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि जो जैसा है वैसा ही सो (प्रकट) करना नहीं चाहता। भीतर कुछ है, बाहर कुछ और दिखता है। व्यक्ति के जीवन में दोहरापन दिखाई पड़ता है। यह दोहरापन ही मायाचारी है। यही निकृति है, कुटिलता है। इस कुटिलता के अभाव का नाम ही आर्जव धर्म है। उत्तम आर्जव का स्वरूप बताते हुए भगवती आराधना में कहा है-

हृदि यत्तद्वाचि बहि फलाति तदेवार्जवम् भवत्येतत।
धर्मो निकृतिरधर्मो द्वाविह सुरसद्म नरक पथौ।।

अर्थात् जो मन में हो उसे ही वाणी और व्यवहार में उतारना, मन-वचन-काय से एक होना, आर्जव धर्म है। इसके विपरीत कुटिलता अधर्म है। सरलता स्वर्ग का सोपान है तो कुटिलता नरक का पथ।

जीवन के इस दोहरे पन को दूर करने का प्रयास करो, क्योंकि यह बहुरूपियापन व्यक्ति को कहीं का नहीं रहने देता। ऐसे व्यक्ति बड़े स्वार्थी होते हैं। अवसर को देखते ही अपना रूप बदल लेते हैं। ऐसे लोगों पर विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि ये कब कैसा रुख अपना लें कहा नहीं जा सकता।

विश्वसनीय और प्रमाणिक वह होता है जिसके हृदय में सरलता हो, आचरण में सच्चाई हो और मन सत्य के प्रति निष्ठावान् हो। सरलता और सत्यनिष्ठा के अभाव में हृदय में पवित्रता नहीं होती। हृदय की पवित्रता के अभाव में धर्म नहीं पलता। सच्चे धर्माचरण के लिए जीवन को बाहर-भीतर से एक करने की आवश्यकता है। मन, वचन, काय की एकरूपता और सरलता ही महानता का आधार है। कहा भी है-

मनस्यैकं वचस्यैकं काये चैकं लक्षणमेतद् महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् काये चान्यद् दुरात्मनाम्।।

मन, वचन और काय में एकरूपता महापुरूषों का लक्षण है, तथा मन, वचन और काय की भिन्नता दुरात्मा की पहचान है। मन में कुछ, वचन में कुछ और प्रकट में कुछ यह कुटिलता और दोहरापन है। इस दोहरेपन को खत्म करके, मन, वाणी और व्यवहार में एकरूपता लाकर सरल बनने की आवश्यकता है।

सरल बनने की बात बड़ी सरलता से सुनी/कही जा सकती है। सरलता सुनने समझने में जितनी प्रतीत होती है, जीवन में उतारने में उतनी सरल नहीं है। नहीं है। कहा है- ''सरल बन जाना कदाचित् सरल है, पर सरल हो पाना बड़ा जटिल है।'' कुछ लोग सरल बनते हैं, कुछ दिखते हैं और कुछ वास्तव में सरल होते हैं। प्रयत्नपूर्वक स्वयं को सरल दिखाने वाले लोग इस संसार में बहुत हैं,

किन्तु वास्तविक रूप से सरल हो जाने वाले लोग बहुत कम हैं। सरल वह है जिसके मन में सत्य के प्रति निष्ठा हो, जो सच्चाई के पथ पर चलने हेतु संकल्पित हो, जो ईमानदारी का जीवन जीने का आदी हो। उसकी सरलता आन्तरिक होती है। जो कपटी दिखावे के लिए सरल बन जाते हैं, उनकी सरलता आरोपित होती है। दूसरों का अनुकरण कर कदाचित् कुछ काल के लिए सरल बन भी जाते हैं तो वह सरलता भी ऊपर से आरोपित होती है। वह उत्तम आर्जव धर्म का अंग नहीं बन पाती।

सन्त कहते हैं- अन्दर से सरल बनो। मन के स्तर पर वाणी के स्तर पर और व्यवहार के स्तर पर सरल बनो। उत्तम आर्जव का सम्बन्ध इसी आन्तरिक सरलता से है। मन, वाणी और कर्म तीनों स्तर पर सरलता से व्यक्ति स्वयं सरलता की प्रतिमूर्ति बन जाता है। वह उसी क्षण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, सत्य को उपलब्ध कर लेता है। सरलमना व्यक्ति कभी दुराव नहीं रखता, दोयम दर्जे का जीवन नहीं जीता। वह साफ और सुलझी सोच रखता है। सरल व्यक्ति दम्भ व दर्प से दूर होता है। चापलूसी, चाटूकारिता से दूर रहता है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं जो व्यक्ति बातों में जितना सरल बनता है, प्रायः वह मन से उतना कुटिल होता है। वह अपनी वाक्पटुता से अपनी कुटिलता को ढँक लेता है। कुटिलता व्यक्ति को द्वंद्व ग्रस्त कर देती है। कुटिल व्यक्ति के मन में द्वंद्व बना रहता है। वह द्वंद्व मुक्त नहीं हो सकता। स्वार्थ है तो कुटिलता होगी, व्यक्ति के मन में अपेक्षाएँ हैं, आग्रह है तो कुटिलता होगी, द्वंद्व है तो कुटिलता है वह व्यक्ति बाहर से कितना भी सरल दिखने का प्रयत्न कर ले भीतर की कुटिलता कहीं न कहीं अभिव्यक्त हो ही जाती है।

एक बार एक लेखक अपने बचपन के मित्र से मिलने गया, मित्र उच्चधिकारी सम्पन्न था और लेखक की परिस्थिति कमजोर थी। मित्र के घर जब वह पहुँचा, उसका मित्र कार पर सवार हो कहीं जाने की तैयारी में था। उसकी दृष्टि अपने बालसखा पर पड़ी तो वह उतरकर आया, बड़ी आत्मीयता से मिला, फिर कहा- ''कितने दिनों बाद मिलना हुआ, बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु आज बड़ी व्यस्तता है, मुझे कई कार्यक्रमों में शामिल होना है, इसलिए तुम मेरे साथ ही चलो। रास्ते में बातें भी हो जाएँगी और सब जगह लोगों से तुम्हारा परिचय भी

करा दूँगा।'' लेखक- ''तुम्हारा कहना ठीक है, पर मेरी और तुम्हारी स्थिति में बड़ा अन्तर है। मेरे पास तो ढंग के कपड़े भी नहीं हैं, लोग क्या कहेंगे? इसलिए तुम होकर आओ, मैं यहीं रुकता हूँ।'' मित्र- ''तुम मेरे कपड़ो में से अपनी पसन्द के कपड़े पहन लो फिर कौन क्या कहेगा? मेरे साथ चलो।'' लेखक मित्र के कपड़े पहिनकर उसके साथ समारोह में चला गया। समारोह में मित्र ने मुख्य अतिथि की आसन्दी से बोलते हुए अपने मित्र का परिचय करते हुए कहा- ''ये मेरे बचपन के मित्र हैं, अच्छे लेखक हैं, विद्वान् हैं, इनका बड़ा नाम है, प्रतिष्ठा है। केवल ये कपड़े जो इन्होंने पहिन रखे हैं, वो मेरे हैं। हैं'' लेखक ने अपना सर पकड़ लिया, सोचा कहाँ फँस गये इसके साथ। बाहर निकलते ही उसने अपने मित्र को उलाहना देते हुए कहा-''भाई तुमने तो मेरी बड़ी बेइज्जती करा दी, क्या इसीलिए लाये थे? ठीक है, अब तुम ही जाओ मुझे नहीं जाना।'' मित्र ने माफी माँगते हुए कहा- ''नहीं भाई! मैं तुम्हारा अपमान नहीं करना चाहता था। पता नहीं कपड़ो पर दृष्टि गई और अचानक मुँह से निकल गया। माफ कर दो, आगे सावधानी रखूँगा।'' दूसरे कार्यक्रम में दोनों गये। बहुतों से मिलना-जुलना हुआ, उसने अबकि बार मित्र का परिचय कराया- ''ये लेखक हैं, विद्वान हैं, बड़ा नाम है.... आदि। रही बात कपड़ो की तो ये भी इन्हीं के हैं।'' लेखक बहुत दुखी हो गया। भाई यह तो हद हो गई, बार-बार कपड़ो की बात कर मुझे नीचा दिखा रहे हो। माफ कर दो अब मुझे कहीं नहीं जाना। उसका मित्र उसे मनाने लगा- नहीं मित्र! मेरा ऐसा भाव नहीं था, मैं बहुत शर्मिन्दा हूँ, बुरा मत मानो। साथ चलो। अब मैं कपड़ो का जिक्र भी नहीं करूँगा। दोनों तीसरी जगह पहुँचे। वहाँ मित्र ने लेखक का परिचय कराया- उसकी बड़ी प्रशंसा की, ये हैं, वो हैं आदि फिर उसके मुँह से निकल ही गया कि कपड़ों की बात मैं नहीं करूँगा, आप इन्हीं से पूछ लो किसके हैं। जो भीतर होता है वह कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में प्रकट हो ही जाता है। मनुष्य की पहचान उसके बाह्य आचार से नहीं, उसके आन्तरिक अभिप्राय से होनी चाहिए। धर्म बाह्य आचार पर नहीं, भावना अभिप्राय पर निर्भर करता है। शास्त्रों में चार प्रकार के लोग बताये गये हैं।

1. बाहर से सरल, भीतर से सरल
2. बाहर से कुटिल, भीतर से सरल

3. बाहर से सरल, भीतर से कुटिल
4. बाहर से कुटिल, भीतर से कुटिल

1. बाहर-भीतर से सरल- प्रथम प्रकार के लोग अत्यन्त सरल होते हैं, उनके हृदय में कपट तथा कुटिलता कभी स्थान नहीं रखती। वे व्यवहार और भावना दोनों के स्तर पर स्वच्छ होते हैं। वे बाहर और भीतर दोनों रूपों में निष्कपट और निश्छल होते हैं। ऐसे व्यक्ति के जीवन में दोहरापन नहीं होता। किसी भी व्यक्ति या साधक की साधना भले ही उच्च न हो, भले ही उनके जीवन में तप त्याग की मात्रा कम हो, किन्तु यदि उनके हृदय में सरलता है तो वह अनेक साधकों से श्रेष्ठ हैं। क्योंकि भगवान् महावीर ने कहा है-'**धम्मो सुद्धस्स चेट्ठइ**' धर्म पवित्र हृदय में ही स्थान पाता है। मन की पवित्रता के अभाव में जीवन की शुद्धि असम्भव है। कुरल काव्य में लिखा है-

''वह प्रभावशाली मुद्रा किस काम की जबकि अन्तःकरण में बुराई भरी है और हृदय इस बात को जानता है।''

बाहर और भीतर से सरल मनुष्य का जीवन अत्यन्त सहज और प्राकृतिक होता है। उसमें बनावट, सजावट और दिखावट नहीं होती। सरलता स्वाभाविक चीज है। उसमें कोई मिलावट नहीं होती। प्रकृति की सभी चीजें सुन्दर होती हैं क्योंकि ये सभी स्वाभाविक होती हैं, उनमें कुटिलता नहीं होती। वे जैसी होती हैं वैसी ही दिखाई पड़ती हैं। प्रत्येक वस्तु जब तक अपने स्वाभाविक रूप में होती हैं, उसमें स्वाभाविक आकर्षण होता है। किन्तु वही वस्तु जब कृत्रिमता का आवरण ओढ़ लेती है, उसका सौन्दर्य और आकर्षण नष्ट हो जाता है। मनुष्य का हृदय भी स्वाभाविक रूप से सरल होता है। कुटिलता, कृत्रिमता, बनावट, दिखावट, ढोंग और पाखण्ड के कारण उसका आत्म सौन्दर्य दूषित हो गया है। परिणाम यह हुआ है कि आज प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे को सन्देह और अविश्वास की दृष्टि से देखता है, कोई किसी का विश्वास नहीं करता। आज मनुष्य ने अपनी विश्वसनीयता खो दो है।

एक बार एक कुम्हार का गधा कहीं खो गया। उसे घड़े बनाने के लिए मिट्टी लानी थी। उसे अपने एक मित्र का ध्यान आया। वह मित्र के पास गया,

बोला– ''मित्र! मेरा गधा खो गया है, मुझे घड़ा बनाने के लिए मिट्टी लानी है। कुछ समय के लिए मुझे अपना गधा दे दो।'' वह मित्र तो मित्र ही था, बोला– ''क्या बताऊँ दोस्त, आज पहली बार तो तुम मुझसे कुछ माँगने आये हो और मैं तुम्हें सहयोग नहीं कर पा रहा हूँ। मैं बहुत शर्मिन्दा हूँ, मेरा गधा जंगल में चरने चला गया है। घर पर नहीं है, होता तो अवश्य दे देता।''

उसने इतना कहा ही था, कि भीतर से गधा रेंकने लगा।

कुम्हार ने कहा– ''भाई! तुम तो कह रहे थे गधा घर पर नहीं है, जंगल में चरने गया है, पर गधा तो घर के भीतर रेंक रहा है।'' मित्र– ''हद हो गई आदमी की बात पर भरोसा नहीं, जानवर की बात पर भरोसा कर रहे हो।''

आज यही स्थिति मनुष्य की है। उसने अपनी विश्वसनीयता खो दी है। सरलता सच्चाई पर निर्भर करती है, वही व्यक्ति सरल हो सकता है जिसके मन में सत्य के प्रति निष्ठा हे। सत्यनिष्ठ व्यक्ति विश्वसनीय और प्रामाणिक होता है। सच्चा पुरुष अत्यन्त ईमानदार होता है। कपट मनुष्य को घृणास्पद बना देता है। वह हमारे आन्तरिक व्यक्तित्व को खोखला बना देता है। उसके हृदय की सरलता को रेखांकित करती एक बड़ी प्राचीन कथा है–

एक बार शिष्य नित्य की अपेक्षा कुछ विलम्ब से अपने स्थान पर लौटे। गुरु ने उनसे देर से आने का कारण पूछा। शिष्य बोले ''प्रभु मार्ग में नट का नृत्य हो रहा था, उसे देखने के लिए वहाँ रुक गये थे।'' गुरु ने उन्हें समझाते हुए कहा– ''जैन शासन में साधुओं को नाटक, तमाशा देखना वर्जित है। अतः तुम प्रायश्चित लो और भविष्य में उन्हें देखना छोड़ दो।'' शिष्यों ने नतमस्तक होकर प्रभु की आज्ञा मान ली। किन्तु दूसरे दिन वे फिर कुछ देर से लौटे। गुरु ने पुनः उनसे विलम्ब का कारण पूछा तो शिष्यों ने उत्तर दिया– ''आज हम नटी का नृत्य देखने गये थे।'' गुरु ने कहा– ''मैंने तुम्हें कल नृत्य देखने को मना किया था, फिर आज भी तुम नृत्य देखने चले गये।'' शिष्यों ने अत्यन्त सरलता से कहा– ''भगवन्! नट का नृत्य देखने के लिए मना किया था, वह हमने नहीं देखा। बस नटी का नृत्य देख कर आ गये। अगर यह भी अपराध है, तो आप क्षमा करें। हम अब कभी भी नृत्य नहीं देखेंगे।'' गुरु अपने प्रिय शिष्यों की जड़ता भरी सरलता

देखकर मुस्कराने लगे और बोले- ''भोले वत्स! नट के नृत्य के निषेध में नटी के साथ प्रत्येक प्रकार के नृत्य का निषेध समझना चाहिए। अस्तु, इसकी भी शुद्धि करो और भविष्य में ऐसे दोषों से बचो।'' शिष्य अत्यन्त सरल थे, उन्होंने बड़ी नम्रता के साथ गुरु आज्ञा शिरोधार्य की और प्रायश्चित कर लिया।

यह उस समय का उदाहरण है जब लोगों की प्रकृति में वक्रता तथा छल-कपट नहीं था। शिष्यों ने लालुपता में नृत्य नहीं देखा था, भोलेपन में मार्ग में नृत्य देखने लग गये थे। और इसीलिए बिना किसी बहाने के निष्कपट भाव से गुरु के सम्मुख यथार्थ बात प्रकट कर दी थी। ऐसे शिष्य सफल साधक बनकर सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। जो शिष्य ज्ञानवान होकर भी कपटी तथा वक्र बने होते हैं उनका उद्धार होना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव होता है। कहा भी है-

''मूर्खा वरा निष्कपटाः साधवो ये भवन्ति ते।
आलोच्यन्ति गुर्वन्ते यथा नाटक पश्यकाः।।''

अर्थात् शिष्य मूर्ख भले ही हों परन्तु कपट हीन होने चाहिए। ऐसे शिष्य अपनी आलोचना करने के लिए तैयार रहते हैं। जैसे नट-नटी का नाटक देखने वाले शिष्य।

2. बाहर से कुटिल, भीतर से सरल- दूसरे प्रकार के वे लोग हैं जो बाहर से कठोर और भीतर से सरल होते हैं। ये बादाम की तरह होते हैं। बादाम का बाहर से छिलका कठोर और भीतर से मृदुगिरी। ये कदाचित् कटु-कठोर वचन कहें तो भी अभिप्राय सदैव कल्याण का होता है। धर्म का सम्बन्ध व्यक्ति के आचरण से जुड़ा होता है। अभिप्राय में पर का हित है तो किया गया कठोर आचरण भी सरलता की श्रेणी में आता है। यदि मंशा किसी के अहित की है, तो मधुर व्यवहार भी कुटिलता है। विशुद्ध भावना से किया गया कठोर आचरण भी सरलता माना जाता है। माता-पिता अपने बच्चों को डाँटते हैं, कदाचित् पीटते हैं। उनका अभिप्राय बच्चों को संस्कारित करने का होता है। माटी भी पिटे बिना घट नहीं बना पाती। शिक्षक विद्यालय में छात्रों को नाना प्रकार की सजाएँ देते हैं, कभी-कभी पीटते भी हैं, किन्तु उनकी भावना छात्रों को शिक्षित करने की होती

है। इसी प्रकार शिष्य की भूलों के लिए गुरु उसकी भर्त्सना करते हैं तथा प्रायश्चित्त विधान करते हैं, पर इन सब में उनका अभिप्राय भलाई का होता है। किसी के विकास के लिए अपनाई गई कठोरता, कठोरता नहीं, कर्त्तव्य-भावना है। यदि ये सोचते कि जिसे जो करना है करे, हम तो तटस्थ दृष्टा हैं। तो कई बार कर्त्तव्यविमुखता की स्थिति बन सकती है। माता-पिता, गुरुजनों की कठोरता में स्वार्थ नहीं होता, इसलिए वह छल नहीं है।

3. बाहर से सरल और भीतर से कुटिल - तीसरे प्रकार के मनुष्य वे होते हैं जो ऊपर से सरल दिखते हैं, पर होते नहीं। शास्त्रकार कहते हैं ''गुमची देखने में बहुत सुन्दर होती है परन्तु इसकी दूसरी ओर कालिमा होती है। कुछ आदमी भी उसी तरह के होते हैं, उनका बाहरी रूप तो सुन्दर होता है, किन्तु अन्तःकरण बिल्कुल कलुषित होता है।''

ऐसे व्यक्ति बाहर से सीधे व सरल दिखते हैं किन्तु अन्दर से धूर्त, कपटी व छल से भरे होते हैं। ऐसे व्यक्ति बड़े खतरनाक होते हैं। उनका आचरण व व्यवहार अत्यन्त शुद्ध व मित्रतापूर्ण दिखाई देता है, किन्तु अवसर पाते ही वे अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए अपने हितैषी मित्र का गला घोटने में नहीं हिचकिचाते।

जो बाहर से सरल और अन्दर से वक्र होते हैं वे भले ही साधु पुरुष क्यों न हों, तथा उनकी बाह्य क्रियाएँ कितनी भी धर्ममय क्यों न हों, उन्हें अपनी उस क्रिया या साधना का वास्तविक फल नहीं मिल सकता। धर्म के क्षेत्र में भावनाओं का महत्त्व है। जो काम शुद्ध हृदय से किया जाता है वह देखने में भले ही छोटा हो पर उसका फल महत्त्वपूर्ण होता है। और बड़े से बड़ा कार्य भी यदि विकृत भावना से किया जाए तो उसका कोई लाभ नहीं होता। उनमें स्वार्थ तथा लोभी की कलुषता भर जाती है। ऐसे व्यक्ति के बारे में यही कहा जा सकता है-

''मन कलिन , तन सुन्दर ऐसे।
विष तैं भरा कनक घट जैसे।।''

शरीर सुन्दर है, मन में मलिनता भरी है तो वह उसी प्रकार है जैसे स्वर्ण कलश में विष भरा हुआ है। ऐसे स्वर्ण कलश का क्या उपयोग? अन्तरंग की

निर्मलता के अभाव में समस्त बाहरी क्रियाएँ व्यर्थ हैं। व्यक्ति के बाह्य आचरण से ही प्रभावित नहीं होना चाहिए। उसकी अन्तरंग भावना से सरल हो सकता है तथा बाहर से सरल दिखाई पड़ने वाला मनुष्य भी भीतर से कठोर हो सकता है। अतः मनुष्य की महत्ता उसके बाह्य आचरण से न हो कर उसके अन्तःकरण की पवित्रता से है। कुरल काव्य में कहा है-

''बाण सीधा होता है और तम्बूरे में टेढ़ापन होता है। इसलिए मनुष्य को आकृति से नहीं, उसके कामों से पहचानो।''

किसी नगर के बाहर एक साधु की कुटिया थी। साधु के पास प्रतिदिन बहुत से भक्तगण आते थे। उसकी कुटिया से कुछ दूर एक वेश्या का महल था। साधु रोज धुनी रमा कर ध्यान में बैठ जाता, पर मन स्थिर नहीं रहता था। वह मन में सोचता रहता वेश्या के पास इतने लोग आते हैं, वहाँ ऐशो आराम करते हैं, उसके यहाँ अभी नृत्य-गान चल रहा होगा, रंगरेलियाँ मन रही होंगी, ये हो रहा होगा, वो हो रहा होगा। मन में बराबर अशुभ चिन्तन ही चलता रहता था, बैठता तो ध्यान में, लेकिन वेश्या ही झूलती रहती। वेश्या कितनी पापिन है, दुराचारिणी है।

उधर वह वेश्या न जाने किन परिस्थतियों में वेश्या बनी थी। उसका मन सदा उसे कचोटता रहता। अपनी वेश्यावृत्ति से उसे बहुत ग्लानि होती। वह हमेशा सोचती रहती है मैं कितनी पापिन हूँ, मेरा जीवन कितना कलंकित है, धन्य है वह साधु जो अपनी साधना में लीन है, अपने कर्मो का प्रक्षालन कर रहा है, मुझे अपने पापों को धोने में न जाने कितने जन्म लेने पड़ेगे। कैसे इनसे मुक्त हो पाऊँगी।

साधु वेश्या के विषय में सोचता था और वेश्या अपने पापों के क्षय के विषय में। संयोग से दोनों का एक ही दिन मरण हुआ। अपने शुभ चिन्तन के कारण वेश्या स्वर्ग गयी और साधु नरक गया। धर्म आन्तरिक होता है। ऊपर से आरोपित नहीं किया जा सकता।

ऊपर से शुभाचरण और अभिप्राय में कुटिलता बहुत बड़ी आत्मवंचना है। यह मिथ्याचार पाखण्ड अथवा ढोंगी हैं, ये करते कुछ और कहते कुछ हैं।

इनकी कथनी और करनी में बड़ा अन्तर होता है। तुलसीदास जी ने ऐसे लोगों के लिए कहा है-

वंचक भक्त कहाय राम के।
किंकरकंचन कोह काम के।।

ऐसे व्यक्ति ''मुँह में राम बगल में छुरी'' की कहावत चरितार्थ करते हैं। भगवद् गीता में 'मिथ्याचार' को परिभाषित करते हुए कहा है-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।

अर्थात् जो व्यक्ति बाहर से अपनी कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर, वाणी, गुदा और मूत्रेन्द्रिय) को रोककर, मन ही मन इन्द्रिय विषयों का स्मरण करता रहता है, वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी कहलाता है।

सन्त कहते हैं मिथ्याचरण से बचो। यह बहुत बड़ी आत्मवंचना है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने की कोशिश करो। तुमने बाहरी पुरुषार्थ तो खूब किया, उसके साथ आन्तरिक पुरुषार्थ करने की और आवश्यकता है। ध्यान रखना अन्तरंग परिणामों की शुद्धि के बिना आत्मोद्धार सम्भव नहीं। जो व्यक्ति बाहर से उज्जवल, पवित्र सन्त या भक्त के वेश में रहता है, धार्मिक क्रियाकाण्ड भी करता है तपस्या भी करता है पर मलीन है, तो उसकी सारी क्रियाएँ बगुला भक्ति ही कहलाएगी। ऐसी बगुला भक्ति के विषय में कुरल काव्य में ठीक ही लिखा है-

''उस आदमी को देखो जो धर्मात्मा के वेश में छुपा रहता है और दुष्कर्म करता है। वह उस बहेलिए के समान है जो झाड़ी के पीछे छिपकर चिड़ियों को पकड़ता है।''

सन्त कहते हैं- बाह्य वेश के साथ-साथ अन्तरंग की शुद्धाता का भी ध्यान रखना चाहिए। अन्तरंग पवित्रता के अभाव में किया गया धर्माचरण- धर्माचरण नहीं, धर्माचरण का ढोंग है। ढोंग में जीवन का उद्धार नहीं होता, धर्म ढोंग की वस्तु नहीं, सही ढंग से जीने की कला है। अतः धर्म का ढोंग नहीं ढंग से

करें। ढोंग से पाखण्ड पलता है। पाखण्ड नहीं, पाप का खण्डन करो। पाप के खण्डन के लिए शुद्ध आचरण ही आवश्यकता है। आन्तरिक पवित्रता के अभाव में किए गए बाह्य त्याग को आत्मवंचना और आडम्बर बताते हुए कुरल काव्य में लिखा है-

''देखो जो पुरुष वास्तव में अपने मन से तो किसी वस्तु को छोड़ता नहीं परन्तु बाहर त्याग का आडम्बर रचता है और लोगों को ठगता है, उससे बढ़कर कठोर हृदय कोई नहीं।''

बाहर से सरल और भीतर से कुटिल व्यक्ति निपट स्वार्थी होते हैं। इनका कभी भरोसा नहीं किया जा सकता। ये बड़े विश्वासघाती और धोखेबाज होते हैं, ऐसे लोग अपनी वाक्पटुता और मधुर व्यवहार के बल पर पहले अपना विश्वास जमाते हैं। फिर वाक् जाल में फँसाकर तरह-तरह के सब्जबाग दिखाते हैं। ऐसे लोगों की बातों में प्रायः ऐसे लोग आसानी से फँस जाते हैं, जो अन्धविश्वासी हों, भूतप्रेत आदि से पीड़ित हों, पद-प्रतिष्ठा आदि के लिए लालायित हों, उन्हें ऐसे धूर्त, पापी लोग लम्बी चौड़ी बातें बनाकर अपने चुंगल में फँसा लेते हैं। आये दिन हम समाचार पत्रों में पढ़ते हैं कि अमुक व्यक्ति अपने पैसे दूने कराने के मोह में ठगा गया, किसी के स्वर्णादि आभूषण चले गये। आजकल तो ऐसी बहुत सी फाईनेंस कम्पनियों के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने पहले तो जनता को प्रलोभन देकर गुमराह किया और बाद में सारी जनता का पैसा हड़प कर गोल हो गये। भोली-भाली गरीब जनता पैसे के मोह में पड़कर अपना सब कुछ गवाँ बैठी। कई-कई बार तो ऐसा भी हुआ है कि लोगों ने इनके द्वारा दिये गये अधिक ब्याज के आश्वासन में अपनी सारी बचत राशि का निवेश ऐसी कम्पनियों में कर दिया, पर उन्हें एक पैसा भी नहीं मिला। बन्धुओं यह बहुत बड़ा विश्वासघात है, इसी प्रकार अन्धविश्वासी लोग भी मन्त्र-तन्त्र आदि के चक्कर में विश्वासघात के शिकार बन जाते हैं।

एक परिवार में लोग पीड़ित थे, उन्हें भूत-प्रेत की बाधा का भ्रम था। एक ठग को इसका पता चला। उसने अपने एजेंटों के माध्यम से उनसे सम्पर्क कराया। परिवार तो पहले से ही पीड़ित था। ठग की बातों में आकर उस परिवार

ने अपनी समस्याओं का निराकरण करने को कहा ठग उनके घर गया, घर की स्थिति देख ली, फिर परिवार वालों से कहा इस घर में बहुत से भूतों ने डेरा जमा रखा है, उन्हें हटाना पड़ेगा। मैं अनुष्ठान करूँगा, पर इस बीच घर में कोई नहीं रहेगा। उसने घर खाली करवाकर घर का सारा सोना चाँदी एक टंकी में भर लिया। उसके बाद उसने लोगों से कहा, कि मैंने सारे भूतों को इस टंकी में भर लिया है। अब मैं इसे काफी दूर छोड़ने जा रहा हूँ। इन्हें अपने स्थान तक पहुँचाने में दो दिन लगेंगे। तब तक मकान में आप लोग प्रवेश मत करना। लोग उसकी बातों में आ गए। दो दिन बाद जब वे अपने मकान में गए तो उनकी आँखे फटी रह गईं, क्योंकि वे अपना सब कुछ गवाँ चुके थे। ऐसे अनेक प्रसंग प्रायः रोज घटित होते हैं। कपटी लोग पहले तो अपने बनावटी रूप के आधार पर दूसरों को प्रभावित कर लेते हैं, फिर उनके साथ विश्वासघात करते हैं। इसलिए सन्त कहते हैं कि हर किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिए। कुरल काव्य में लिखा है– ''जो आदमी परीक्षा लिए बिना ही दूसरे मनुष्य पर विश्वास करता है, वह अपनी सन्तति के लिए अनेक आपत्तियों का बीज वो रहा है।''

मनुष्य के ऊपरी व्यवहार को ही सब कुछ मत समझो। उसकी आन्तरिक भावना को भी समझने का प्रयत्न करो। प्रायः कपटी लोग बातें और व्यवहार मधुर करते हैं, पर उनकी भावना कलुषित रहती है। संस्कृत की एक सूक्ति है–

असली च भवति सलज्जा क्षारं नीरं च शीतलं भवति।

कुलटा स्त्री अधिक लज्जा का नाटक करती है। खारा पानी अपेक्षाकृत अधिक ठण्डा होता है। नीतिकार कहते हैं कि कपटी मनुष्य साँप की तरह होते हैं। साँप का शरीर बहुत ही मुलायम, रेशम सा कोमला और चमकीला होता है। परन्तु उसके ओट में पहर छुपा होता है। बन्धुओं विश्वासघात बहुत बड़ा पाप है उस व्यक्ति की आत्मा से पूछिए जो किसी के विश्वासघात का शिकार होता है उसे कितना कष्ट होता है। ऐसी मायाचारी तिर्यञ्च योनि का कारण है। कहा है– ''**मायातैर्यग्योनस्य**'' सन्त कहते हैं– कपट का व्यापार अधिक नहीं चलता। तुम किसी से कब तक जालसाजी करोगे। किसी को कब तक ठगोगे। कहा है–

फेर न ह्वे है कपट सों जो कीजै व्यवहार।
जैसे हाँड़ी काठ की चढ़ै न दूजी बार।।

जैसे काठ की हड़िया अग्नि की आँच पर चढ़कर एक बार में ही जल जाती है, दूसरी बार वह नहीं चढ़ सकती, वैसे ही कपट की प्रवृत्ति एक बार ही चल पाती है, जब मनुष्य उसे जान जाता है तब उसके धोखे में नहीं आता। कई बार ऐसे लोग खुद अपनी ही चाल के शिकार बन जाते हैं।

बैरिस्टर चितरंजन दास मुखर्जी ट्रेन से यात्रा कर रहे थे वे अपनी सीट पर बैठे पेपर पढ़ रहे थे, ट्रेन में भीड़ नहीं थी, पूरा कम्पार्टमेन्ट खाली था। एक सम्भ्रान्त सी नवयुवती उनके पास आयी और बैठने की अनुमति माँगने लगी। मुखर्जी ने इशारे से बैठने की अनुमति दे दी। पहले तो उस युवती ने अपने दुःखों का रोना रोकर उन पर अपना विश्वास जमाना चाहा, फिर जब ट्रेन ने स्पीड पकड़ी तो अपना असली रूप प्रकट करते हुए कहा- ''देखिए, पूरे कम्पार्टमेन्ट में हम दोनों के अतिरिक्त कोई नहीं है आप मुझे एक हजार रुपये दे दो अन्यथा मैं चिल्ला दूँगी कि आपने एकान्त का फायदा उठाकर मुझसे बदतमीजी की है।'' युवती ने बैरिस्टर साहब को ब्लेकमेल करना चाहा। पर बैरिस्टर साहब भी कम नहीं थे। उन्होंने इशारे से कहा- मैं सुन नहीं सकता और बोल भी नहीं सकता। अतः तुम क्या चाहती हो, लिखकर बता दो। युवती ने आाव देखा न ताव, झट से एक कागज पर अपनी बात लिख दी। बैरिस्टर साहब ने उसे बड़े इत्मीनान से पढ़ा और अपनी जेब में रख लिया। फिर जोर से उसके गाल पर एक तमाचा जड़ते हुए कहा- ''दुष्टा! तू मुझे ब्लेकमेल करना चाहती है। अब चिल्ला, तुझे जितनी जोर से चिल्लाना हो।'' वह युवती सन्न रह गई, वह अपनी ही चाल में फँस गई। बैरिस्टर साहब ने उसे गिरफ्तार करवा दिया।

4. बाहर-भीतर से कुटिल- चौथे प्रकार के व्यक्ति बाहर-भीतर से कुटिल होते हैं। कुटिलता उनकी नस-नस में भरी होती है। वे कुटिलता की प्रतिमूर्ति होते हैं। उनका जीवन बड़ा गूढ़ होता है। उनके विषय में कहा गया है-

कुटिल गति-कुटिल मति-कुटिलाशयः कुटिलशील सम्पन्नः।
सर्वं पश्यति कुटिलं कुटिलः कु टिलेन भावेन।।

कुटिल व्यक्ति सभी चीजें कुटिल भाव से कुटिल रूप में देखता है। उसकी गति भी कुटिल होती है उसके मनोभाव भी कुटिल और उसका आचरण भी कुटिलता युक्त होता है। अन्दर तथा बाहर से कुटिल व्यक्ति से कभी किसी की भलाई की आशा नहीं की जा सकती। वे कभी दूसरों का हित नहीं कर सकते। उनकी भावना हर क्षण दूसरों को दुःख पहुँचाकर अपना स्वार्थ सीधा करने की होती है। ऐसे लोग मरते-मरते भी कुटिलता नहीं छोड़ते।

एक व्यक्ति बड़ा कुटिल था पूरा जीवन उसने दूसरों को ठगने और उनकी सम्पत्ति हड़पने में बिताया। पड़ोसी से उसका विवाद चल रहा था। जब वह मरणासन्न था, तब उसने अपने पुत्रों को बुलाकर कहा- ''अब मैं मरूँगा परन्तु मेरी अन्तिम इच्छा है, तुम लोग मेरे मरने के बाद मेरे हाथ-पैर काटकर पड़ोसी के घर पर फेंक देना। इससे पड़ोसी फँस जाएगा, तो मेरी आत्मा को बड़ी शान्ति मिलेगी।'' पिता की बात सुनकर बेटे हक्के-बक्के रह गये। धिक्कार है ऐसे लोगों को जो मरते-मरते भी अपनी कुटिलता नहीं छोड़ते। ऐसे लोगों का कभी उद्धार नहीं हो सकता। नीतिकार कहते हैं-

अन्तर्गतमलो दुष्ट स्तीर्थस्नान शतैरपि।
न शुद्धोयति यथा भाण्डं सुराया दाहितं च यत्।।

जैसे मदिरा का पात्र आग से तपाने पर भी शुद्ध नहीं होता, वैसे ही कुटिल हृदय व्यक्ति सौ बार तीर्थ स्नान करने पर भी शुद्ध नहीं होता। अतएव कुटिलता, मायाचारी और कपटपूर्ण व्यवहार से बचने का प्रयत्न करें। सरलता और सदाचार को अपने जीवन का आदर्श बनाकर चलें। तभी आत्म कल्याण होगा। दूसरों को ठगने वाला कभी सुखी नहीं हो सकता। कबीरदास जी ने ठीक ही लिखा है-

कबीरा आप ठगाइए और न ठगिये कोय।
आप ठग्याँ सुख उपजै और ठग्याँ दुख होय।।

चक्कर लोभ और लाभ का

साफ और स्वच्छ दर्पण में उभरने वाला प्रतिबिम्ब स्वच्छ होता है। दर्पण के मलिन होने पर उसमें हमारी स्वच्छ छवि प्रतिबिम्बित नहीं होती। शान्त और स्वच्छ जल में हम अपना प्रतिबिम्ब देख सकते हैं, उसका अनुपात कर सकते हैं, लेकिन गन्दा जल हमारे किसी काम का नहीं होता। वैसे ही गन्दा मन भी हमारे किसी काम का नहीं। जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए स्वच्छता व सफाई जरूरी है। इसी सफाई का नाम है- शौच धर्म। ''शुचेर्भावं शौचम्'' शुचिता के भाव को शौच कहते हैं। आत्मा की विशुद्धि के लिए चित्त के दर्पण की स्वच्छता जरूरी है।

पवित्रता अपेक्षित है। स्वच्छता होनी चाहिए। बाहर की स्वच्छता का हम दिन-रात ध्यान रखते हैं। अपने शरीर की स्वच्छता में पूर्णतः जुटे रहते हैं। हर क्षण उसके साज-सम्हाल में तत्पर रहते हैं। लेकिन सन्तों का कहना है- बाहर की सफाई, सफाई नहीं, मन की सफाई ही सबसे बड़ी सफाई है। तन को नहीं, मन का माँजों। तुमने आज तक तन को माँजा है, मन अछूता रहा है। शौचधर्म मन को परिमार्जित करने का धर्म है। कहावत है- ''मन चंगा तो कठौती में गंगा।'' मन की पवित्रता होने पर तुम्हारे लिए गंगा में स्नान करने की भी जरूरत नहीं है और मन की पवित्रता के अभाव में गंगा का पवित्रतर जल भी हमारी शुद्धि नहीं कर सकता।

स्वच्छता आन्तरिक होनी चाहिए। तन शुद्धि से बड़ी मन शुद्धि है। जिस तन की हम शुद्धि करना चाहते हैं, वह कभी शुद्ध हो ही नहीं सकता। कोयले को कोई कितना ही धोए, कोयला सफेद नहीं हो सकता। हाँ कोयले को यदि हम आग में तपा दें, जला दें तो राख बनकर कोयला भी सफेद परिणति धारण कर सकता है। वैसे ही इस शरीर की हम चाहे जितनी भी शुद्धि क्यों न करें, शरीर शुद्ध नहीं हो सकता। तप की अग्नि में तपाकर ही काया को कंचन बनाया जा सकता है। शरीर का स्वभाव ही ऐसा है। शास्त्राकार कहते हैं- ''शीर्यते इति शरीरं'' जो क्षण-क्षण क्षीण हो, शीर्ण हो, सड़े-गले वह शरीर है। शरीर को लाख सँवारने का प्रयत्न करें, वह सँवर नहीं सकता। शरीर को न तो मेन्टेन रखा

जा सकता है, न ही उसे सदैव तरोताजा रखा जा सकता है। हम कहते हैं-

केशर चन्दन पुष्प सुगन्धित वस्तु देख सारी।
देह परसते होय अपावन निशदिन मल जारी।।

शरीर तो मल का पिटारा है। संसार की पवित्रतम वस्तु भी शरीर के संसर्ग में आ जाने से अपवित्र हो जाती है। गंगा का पवित्रतर जल भी शरीर के सम्पर्क में आकर अपवित्र हो जाता है जो खुद अपवित्रता का जनक है, उसे पवित्र कैसे किया जा सकता है। इसलिए सन्त कहते हैं- शरीर का सजाने का प्रयत्न तो मल भरे मटके को फलों से सजाने का प्रयत्न है। मल भरे मटके को कोई चाहे जितने फूलों से भी क्यों न लाद दे, उसके भीतर की सड़ान्ध को दूर नहीं किया जा सकता। कचरे के ढेर में कोई कितना भी सेन्ट (इत्र) क्यों न उडेल दे, उससे सुवास प्रस्फुटित नहीं हो सकती। तुम तन का चाहे जितना माँज लो, जीवनव सुन्दर नहीं बन सकता। परम सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए तन को नहीं मन को परिमार्जित करने की आवश्यकता है। कहा है-

जिस्म तो बहुत सँवर चुके, रुह का श्रृंगार कीजिए।
फूल तोड़िए न साख से, खुशबूओं से प्यार कीजिए।।

आज भीतरी पवित्रता का प्रयोजन है। भीतरी पवित्रता तभी सम्भव है, जब हमें भीतरी अपवित्रता का अहसास हो। गन्दगी हमें दिखाती है, हम उसकी सफाई का प्रयत्न करते हैं। भीतरी गन्दगी का हमें कोई आभास नहीं है, इसीलिए उसके प्रक्षालन का प्रयत्न भी हम नहीं कर पाते। हमारी काषायिक परिणति हमारे मन को कितना मलिन कर रही, उसे देखने की कोशिश करें। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं-

णादूण आसवाणम् असुचित्तं च विवरीय भावं च।
दुक्खस्स कारणं तिय तदो णियत्तिं कुणदि णाणी।। समयसार

ज्ञानी जीव मन को अपवित्र बनाने वाले काषायिक भावों को जानते ही, उसे दुःख का मूल कारण मानकर उससे निवृत्ति ले लेता है। वह तत्क्षण अपनी आत्मा को परिमार्जित करने की दिशा में सन्नद्ध हो जाता है। आत्म परिमार्जन की

दिशा में तत्पर हो जाना ही सही अर्थों में शौच धर्म को अंगीकार करना है।

आत्मा को मलिन बनाने वाला तत्त्व कषाय है। क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे विकार हैं जो हमारी आत्मा को विकलांग बना रहे हैं जरा देखें, ये चारों कषायें किस प्रकार हमारे जीवन को विकलांग बना रही है। क्रोधी व्यक्ति अन्धा होता है, उसे कुछ सूझता नहीं। मानी व्यक्ति किसी की कुछ सुनता नहीं। मायावी व्यक्ति की जबान का कोई भरोसा नहीं होता। और लोभी व्यक्ति उसकी क्या कहें? उसकी तो नाक ही कट जाती है। क्रोध ने हमारी आँखें छीन ली, मान ने कान, माया ने हमारी जिह्वा के अर्थ बदल दिये और लोभ ने हमारी नाक कटवा दी। आप कल्पना कर सकते हैं उस व्यक्ति के रूप की, जिसकी आँख न हों, जिह्वा न हो और नाक कटी हो। काषायिक परिणति में जीने वाले व्यक्ति का का आन्तरिक व्यक्तित्व ऐसे ही विकलांग होता है। सन्त कहते हैं- अपने आन्तरिक व्यक्तित्व को संवारना चाहते हो तो कषायों का निग्रह करो।

चारों कषायों का जनक लोभ है। इसलिए शौच धर्म की चर्चा करते हुए कहा जाता है- **''प्रकर्ष प्राप्त लोभान्निवृत्तिः शौचम्''** उत्कृष्टता को प्राप्त लोभ से निवृत्ति ही शौच धर्म है। लोभ को नियन्त्रित करना ही शौचधर्म है। इसका तात्पर्य यह है कि लोभ ही समस्त अपवित्रता का आधार है। लोभ सारे पापों का मूल और अनर्थों की जड़ है। कहा है-

लोभः प्रतिष्ठा पापस्य, प्रसूतिर्लोभ एव च।
द्वेष क्रोधादि जनको, लोभः पापस्य कारणम्।।

लोभ समस्त पापों का मूल और द्वेष क्रोधादि का जनक है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें हैं, पर चारों का उत्प्रेरक लोभ है। लोभ के कारण ही व्यक्ति मायाचारी बनता है। जब उसके मन में किसी चीज के प्रति आकर्षण होता है, उसका मन मुग्ध होजाता है, वह उसे पाने के लिए चाहे जैसे हथकण्डे अपनाता है। स्वार्थ लिप्सा और प्रलोभन के चक्कर में ही माया की सृष्टि होती है। मायाचार में सफल हो जाने के बाद उसके मन में अभिमान उमड़ पड़ता है और जब उसके अहं को चोट पहुँचती है तो उसका क्रोध भड़क जाता है। इसीलिए कहते हैं कि सारी कषायों का जनक लोभ है।

हम अपने इतिहास को पलट कर देखें। अतीत में जितने भी युद्ध हुए वे सब लोभ के कारण हुए। सीता जी के रूप पर रावण मुग्ध हुआ उसने छलिया साधु का रूप धरा। जब उस छल पर उसे सफलता मिल गई, तो वह अभिमान में चूर हो गया और जब उसके अभिमान को चोट पहुँची तो उसके अन्दर क्रोध की ज्वाला भभक उठी। देखें तो विचित्रता, छल पर अभिमान करता है, सत्य पर नहीं। जो रावण लक्ष्मण के द्वारा खींची हुई रेखा को लाँघने में समर्थ नहीं था, अपने छल से सीता को हरने के बाद कहता है- ''यदि राम, लक्ष्मण मुझे युद्ध में हरा देंगे तो मैं सीता को लौटा दूँगा। ऐसे नहीं, क्योंकि यदि मैंने यूं सीता का लौटा दिया, तो लोग कहेंगे कि रावण डर गया।'' सीताजी के प्रति बढ़ी हुई आसक्ति और मुग्धता ही राम और रावण के बीच युद्ध का

कारण बनी। कौरवों के मन में उमड़ी सत्ता और साम्राज्य की तीव्र लालसा के कारण ही महाभारत हुआ। शकुनि जैसा छलिया व्यक्ति सामने आया। फिर दुर्योधन और दुःशासन के पीछे भयानक संग्राम हुआ।

चारों कषायों का मूल लोभ है इसीलिए कहते हैं- **''लोभ पाप का बाप बखाना।''** कर्म सिद्धांत की दृष्टि से भी यदि विचार किया जाये तो क्रोध, मान और माया पहले नष्ट हो जाते हैं और लोभ का क्षय सबसे अन्त में होता है। पर विचित्रता कुछ ऐसी है, कि व्यक्ति जितना क्रोध, मान और माया को बुरा समझता है, उतना लोभ को नहीं। क्रोध की अभिव्यक्ति जल्दी हो जाती है, मान भी समझ में आ जाता है। माया भी जल्दी पकड़ में आ जाती है पर लोभ पकड़ में नहीं आता। लोभ बड़ा खतरनाक तस्कर है। जितने भी तस्कर होते हैं, वे खुद सामने नहीं आते, वे तो अण्डर ग्राउण्ड होते हैं। उनका अलग अंडरवर्ल्ड चलता है। काम तो उनके आदमी करते हैं। इसी तरह लोभ हमारे मन में चुपचाप बैठा रहता है। वह माया, मान और क्रोध की सृष्टि करता है। सन्त कहते हैं- जीवन की विसंगति को नियन्त्रित करना चाहते हो तो लोभ को नियन्त्रित कर लो।

भगवान् महावीर ने कहा है-

दुक्खं हओ जस्स ण होइ मोहो,
मोहो हयं जस्स ण होइ तण्हा।
तण्हा हओ जस्स ण होइ लोहो,
लोहो हयं जस्स ण किंचिणाई।।

किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति आकर्षण होता है तो मन में आशा जगती है, लोभ उमड़ता है, फिर उसे पाने की तृष्णा बढ़ती है। तृष्णा से मोह होता है और मोह से दुःख होता है। लोभ से तृष्णा, तृष्णा से मोह और मोह से दुःख उत्पन्न होता है। अतः दुख से बचना चाहते हो तो लोभ को नियन्त्रित करो क्योंकि लोग ही दुःखों का बीज हैं।

मनुष्य के मन में अनेक प्रकार का लोभ होता है। संसार का प्रत्येक मनुष्य धन की चाह रखता है। हर व्यक्ति अधिक से अधिक धन कमाना चाहता है। धन पाने की लालसा में मनुष्य उचित-अनुचित करनी-अकरनी का भेद नहीं करता। ऐसा लगता है मानो आर्थिक प्रतिस्पर्धा के इस युग में धन ही मनुष्य का साध्य बन गया है। उसे रात-दिन एक ही रट लगी रहती है, वह है धन। वह रात-दिन उसकी ही चिन्ता में लगा रहता है। एक कवि ने धन के धुनि मुनिष्य की इस वृत्ति की तुलना दुन्दुभि से करते हुए लिखा है-

दुन्दुभिस्तु सुतरामचेतनस्तन्मुखादपि धनम् धनम् धनम्।
इत्थमेव निनदः प्रवर्तते, किं पुनर्यदि जनः सचेतनः।।

दुन्दुभि जो कि अचेतन है, फिर भी उसके मुख से धनम् धनम् धनम् की आवाज निकलती रहती हे, तब फिर सचेतन मानव (लोभी) हाय धन, हाय धन, हाय धन की रट लगाता है तो इसमें आश्चर्य क्या है। लोभी व्यक्ति के मुँह पर सदा धन शब्द चढ़ा रहता है। एक बड़ा रोचक उदाहरण है-

एक सेठजी थे। अत्यन्त लोभी थे। अपने वयस्क लड़कों को भी तिमोंडी केश की चाबी नहीं सौंपते थे। ब्याज-बट्टे का धन्धा करते थे, उसमें उधारी बहुत चलती थी। एक बार सेठ जी बीमार हो गये, मरणसन्न दशा थी, मन में दुकान के उन्हीं ग्राहकों के नाम की रटन थी, जिनसे रुपये लेने थे। पिता का अन्तिम समय

निकट जानकर पुत्रों ने सोचा, अगर पिता को अन्तिम समय में राम का नाम याद दिलाया जाए और ये उसे रटें, तो उनकी गति सुधर जायेगी। अतः बड़े पुत्र ने कहा- ''पिताजी जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं है, राम का नाम लीजिए।'' सेठजी तपाक से बोले- ''अच्छा याद दिलाया बेटा, रामप्रसाद चौधरी से 10,000 रुपये लेने हैं। छह महीने से उसने एक भी पैसा नहीं दिया। उससे ब्याज सहित रकम वसूल लेना।'' पुत्रों ने देखा यह तो उल्टा हुआ। इन्हें राम के बदले रामप्रसाद ग्राहक का नाम याद आ गया। अतः छोटे बेटे ने उनसे 'भगवान्' का नाम लेने को कहा, मगर 'भगवान्' का पाम जिह्वा से लिया कैसे जाता? उस पर तो जिनसे धन लेना था, उन ग्राहकों के नाम चढ़े हुए थे। अतः सेठजी बोले- ''बेटा! भगवानदास पण्डित से तकादा करके रकम वसूल करना।'' आखिर धन की रटन कितनी सार्थक है? क्या जीवन पर्यन्त धन संग्रहित करने के बाद भी मनुष्य को संतुष्टि मिल सकती है। मनुष्य जितना अधिक धन कमाता है, उसके अन्दर की लालसा उतनी ही बढ़ती जाती है। सौ पाने पर हजार की चाह होती है, हजार पाने पर लाख की तथा लखपति, करोड़पति बनने की चाह रखता है। धन की यह लालसा अन्तहीन है। जैसे-जैसे पाता है, लोभ वैसे-वैसे बढ़ता जाता है। भगवान् महावीर ने कहा है- लोभ और लाभ में कार्य-कारण सम्बन्ध है। लाभ लोभ का कारण है। जैसे-जैसे लाभ बढ़ता है वैसे-वैसे लोभ बढ़ता है।

''जहा लाहो तहा लोहो लाहो लोहो पवड्ढइ।
दो मास कयं कज्जं कोडीए वि न णिट्ठियं।। ''

जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ होता है। लाभ से लोभ बढ़ता है। कपिल का मात्र दो माशा स्वर्ण से काम था, परन्तु राजा के वचन का लाभ मिलने पर लोभ इतना बढ़ गया कि करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं से भी संतुष्ट नहीं हुआ।

कपिल नाम का एक ब्राह्मण था। वह कौशाम्बी से श्रावस्ती आकर अपने पिता कश्यप के मित्र इन्द्रदत्त उपाध्याय के यहाँ विद्यध्ययन करता था। सेठ शालिगराम के यहाँ उसके भोजन की व्यवस्था थी। लेकिन संयोग कुछ ऐसा बना कि वह आया तो था जीवन का पाठ पढ़ने पर सेठ की दासी से प्रेम करके प्रेम का पाठ पढ़ने लगा। एक दिन उस दासी ने कपिल से कहा- ''कल मुझे एक उत्सव

में सम्मिलित होना है। क्या तुम मेरे लिए वस्त्र-आभूषणों की व्यवस्था नहीं करोगे। तुम तो मुझसे प्रेम करते हो।'' कपिल ने कहा- ''मेरे पास धन कहाँ है, मेरे भोजन तक की व्यवस्था तो दूसरों के यहाँ है। मैं तुम्हारे वस्त्राभूषणों की व्यवस्था कैसे करूँ?'' दासी ने कहा- ''तुम चिन्ता मत करो। यहाँ का राजा बड़ा उदार है, जो कोई भी प्रातःकाल उसे सबसे पहले आशीर्वाद देता है वह उसे दो माश स्वर्ण प्रदान करता है। अतः तुम सबसे पहले राजा के पास जाकर उसे आशीर्वाद दे दो और दो माशा स्वर्ण प्राप्त कर लो।''

चाँदनी रात थी। सुबह हो जाने का समय निकट जानकर आधी रात में ही कपिल अपने घर से निकल पड़ा और तेजी से दौड़ने लगा। उसे दौड़ता देख सिपाहियों ने चोर समझकर उसे पकड़ लिया। अगले दिन राज दरबार में पेश किया गया। राजा ने उससे आधी रात में दौड़ने का कारण पुछा। उसने सारी बात सच-सच बता दी। उसने कहा- ''मैं तो दो माशा सोना पाने के लिए आपके पास आया था। सोचा था कि कहीं कोई दूसरा आकर आपको आशीष न दे जाए, अन्यथा मुझे वंचित रहना पड़ेगा।'' राजा उसकी सत्यवादिता से बड़ा प्रभावित हुआ और बोला- ''ब्राह्मण! मैं तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ। तुम जो माँगोगे मैं तुम्हें वह दूँगा।''

कपिल बोला- ''अच्छा ऐसी बात है तो मुझे थोड़ा सोचने का वक्त दें।'' राजा ने कहा- ''ठीक है, सोच लो।'' कपिल एकान्त में जाकर सोचने लगा- दो माशा स्वर्ण से कुछ होगा नहीं, मैं तो सौ स्वर्ण मुद्राएँ माँग लूँ। सौ स्वर्ण मुद्राओं से क्या होगा, अच्छे आभूषण और वस्त्रादिक भी नहीं आ पायेंगे। ऐसा करता हूँ, हजार स्वर्ण मुद्रायें माँग लेता हूँ। हजार स्वर्ण मुद्राओं से क्या होगा, ये तो बहुत थोड़ी है, कभी भी समाप्त हो जाएगी। दुनियाँ में बहुत से बड़े-बड़े लोग हैं, जिनके पास लाखों-करोड़ो की सम्पत्ति है। अतः राजा जब दे ही रहा है, तो क्यों न एक करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ माँग लूँ। वह इसी उधेड़बुन में था कि तभी राजा ने कहा- ''ब्राह्मण! माँगो जल्दी, क्या चाहते हो?''

राजा के मुख से ब्राह्मण शब्द सुनते ही उसके भीतर का ब्रह्म जाग गया। उसने सोचा धिक्कार है मुझे। मैंने देख ली लोभ की लीला। मैं तो मात्र दो माशा

सोने के लिए आया था, लेकिन लाभ को देखते ही मेरे मुँह में पानी भर आया और करोड़ो स्वर्ण मुद्राओं तक पहुँच गया, फिर भी मेरे मन को तसल्ली नहीं मिली। इस प्रकार तो मेरे मन की आकांक्षाएँ कभी भी पूरी नहीं होंगी। मैं अतृप्त का अतृप्त ही बना रहूँगा। मुझे तो इस राज्य की अपेक्षा प्रभु का राज्य चाहिए, जो परम तृप्ति और आनन्द से परिपूर्ण है। धन की लिप्सा अन्तहीन है। इससे कभी तृप्ति नहीं मिल सकती। कपिल चिन्तन में की गहराई में डूब गया।

राजा ने पास जाकर पूछा- ''कहो ब्रह्मण, आपने क्या माँगने का सोचा है?''

कपिल ने कहा- ''नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए। मुझे जो चाहिए था वह सब मिल चुका है।'' राजा आश्चर्यचकित होकर बोला- ''मैंने तो आपको कुछ भी नहीं दिया, आपको कहाँ से मिल गया।'' कपिल ने अपनी चिन्तन कथा कह सुनाई। राजा ने हर्षित होकर कहा- ''आप निःसंकोच होकर दस करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ माँगें, मैं अवश्य दूँगा।'' कपिल बोला- मुझे आवश्यकता नहीं। मुझे तो परित्याग करके लोभ पर विजय करना है, जिससे मैं पूर्ण तृप्ति को पाकर परम सुख का अनुभव कर सकूँ। यों कहकर कपिल वहाँ से चल पड़ा और वह स्वयंबुद्ध होकर स्वतः मुनि जीवन अंगीकार कर लिया। उसे छह महीने में केवलज्ञान हो गया।

कपिल की मनोवृत्ति में लाभ और लोभ के दुष्चक्र का कितना सुन्दर आलेखन है। बस, यही रूप है लोभ का जिसके चक्कर में फँसा मनुष्य अपने आपको भूल जाता है।

आज हर मनुष्य अधिकाधिक धन पाने की होड़ में है। अपनी धन लिप्सा के पीछे वह दिन का चैन और रात की नींद खो रहा है, फिर भी उसे शान्ति नहीं है। शान्ति उसे मिल ही नहीं सकती। धन की इच्छा तो मृग-मरीचिका के समान है, जो देखने में तो लुभावनी जरूर लगती है, पर उसमें भटकन के सिवाय कुछ भी नहीं है। कुरल काव्य में कहा है-

इच्छाभिस्तु नरः कोऽपि संतृप्तो नैव भूतले।
पूर्ण तृप्तः स एवास्ति येनाशात्याग आदृतम्।।

''इच्छा कभी तृप्त नहीं होती, किन्तु कोई भी मनुष्य उसे त्याग दे तो वह उसी क्षण पूर्णता को प्राप्त कर लेता है।''

इच्छाओं को कोई कितनी भी पूरी करने की कोशिश करे, वे कभी पूरी नहीं होती। कदाचित् एक इच्छा पूरी होती है, तो दूसरी वहाँ आकर खड़ी हो जाती है। जैसे शान्त सरोवर में कंकर फेंकने से उसमें उत्पन्न लहर एक-एक करके पूरे उत्पन्न होती रहती हैं। वैसे ही मनुष्य के मन में एक के बाद एक इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। वह उसे कभी दूर नहीं कर पाता। सन्त कहते हैं- आशा और तृष्णा दुष्पूर हैं, उसे कभी भरा नहीं जा सकता। भगवान् महावीर ने कहा है-

सुवण्ण रुप्पस्स उ पव्वया भवे सिया हु केलास समा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगास समा अणंतिया।।

''कैलाश पर्वत के समान विशालकाय सोने और चाँदी के असंख्य पर्वत भी क्यों न हों, लालची मनुष्य का मन उनसे नहीं भरता। इतना पाकर भी वह संतुष्ट नहीं होता, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।''

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं। दूर क्षितिज पर हमें ऐसा लगता है कि धरती और आकाश मिलकर एक हो रहे हैं। हम उस ओर बढ़ते हैं, पर हमारी गति के साथ-साथ क्षितिज की दूरी बढ़ती जाती है। ऐसे ही हमें लगता है कि दो-चार इच्छाओं को पूरी करके हम शान्ति से रहेंगे, परंतु इच्छाएँ पूरी होती ही नहीं। एक इच्छा की पूर्ति होते ही सैकड़ों अनन्त इच्छाएँ उसका स्थान ले लेती हैं। इच्छाओं की पूर्ति इच्छातृप्ति का साधन नहीं हैं। ईंधन से अग्नि कभी शान्त नहीं हो सकती। इच्छाओं का नियन्त्रण ही इच्छातृप्ति का साधन है। कहा है-

इच्छा बहु विहा लोए, जाए बद्धो किलिस्सति।
तम्हा इच्छामणिच्छाए जिणित्ता सुहमेधति।।

लोक में अनेक प्रकार की इच्छाएँ हैं, जिनसे बँधा हुआ मनुष्य संसार में दुःखों को पाता है। इच्छाएँ दुःखों का मूल कारण हैं। इसलिए इच्छा को अनिच्छा

से जीत कर ही सुख प्राप्त किया जा सकता है। आशा, तृष्णा और इच्छाएँ आकुलता की जननी हैं। ये सब लोभ प्रेरित हैं। इनकी पूर्ति से ये कभी शान्त नहीं हो सकती। लोभ प्रेरित हैं। इनकी पूर्ति से ये कभी शान्त नहीं हो सकती। लोभ प्रेरित तृष्णा तो सुरसा की भाँति हैं, जिसका मुँह सदैव खुला रहता है और बढ़ता ही जाता है। इस लिप्सा को पदार्थों के संग्रह से नहीं, सन्तोष से ही जीता जा सकता है। लोभी व्यक्ति कभी सन्तुष्ट नहीं होता तथा सन्तोषी के मन में लोभ नहीं होता। लोभ और सन्तोष दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। असन्तोष की आग में झुलसता हुआ लोभी व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता। एक बार शेखसादी किसी व्यापारी के यहाँ ठहरे। व्यापारी बहुत धनवान् था। बड़ा ठाट-बाट था उसका। वह रात भर अपने वैभव का बखान करता रहा। उसने बताया मेरी इतनी सम्पत्ति तुर्किस्तान में है, इतनी हिन्दुस्तान में है, इतनी आमुक स्थान पर है। मुझे उन देशों की यात्रा करनी है, फिर मुझे स्वास्थ्य सुधार के लिए अमुक देश जाना है। इसके पश्चात् मुझे तीर्थ यात्रा करने जाना है, फिर एकान्तवासी बनकर खुदा की इबादत करती है। शेखसादी उसकी बातें सुनते-सुनते ऊब गये थे, फिर उसकी राम कहानी पूरी नहीं हुई। अतः शेख साहब बीच में ही बोल उठे- ''आप को मालूम है जिन्दगी अब और कितने दिन की है?''

व्यापारी बोला- ''मुझे इसकी कोई जानकारी नहीं।''

शेखसादी- तो फिर आपने इतने वर्षों के प्रोग्राम पहले से क्यों बना रखा है। यदि आप धन की इच्छा पूर्ति होने के बाद ही धर्म कार्य करना चाहते हैं तो मेरी बात गाँठ बाँध लीजिए कि आपको यह धन इच्छा कदापि पूरी नहीं होगी। जितना-जितना धन बढ़ता जाएगा, आपकी इच्छाएँ उससे दो कदम आगे चली जायेंगी। क्योंकि इनका कहीं अन्त नहीं होता। क्या आपको पता नहीं कि एक प्रसिद्ध व्यापारी की घोड़े से गिरकर मृत्यु हो गई है? जिस समय वह घोड़े से गिरा, उसने एक लम्बी श्वास लेकर कहा- ''जीवन में बहुत धन कमाया, फिर भी अनेक इच्छाएँ मन की मन में रह गयीं।'' उस व्यापारी की भी आपकी तरह अनेक योजनाएँ बनी थीं, जिन्हें पूरा करने का वह स्वप्न देख रहा था, कि अचानक वह मृत्यु की गोद में सदा के लिए सो गया। उसकी सारी इच्छाएँ पृथ्वी

के गर्भ में समा गईं। मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि आपकी स्थिति भी उस व्यापारी से बहुत कुछ मिलती जुलती है और आप सर्वप्रथम धन की इच्छा को पूर्ण कर लेना चाहते हैं। तदुपरांत जब धन इच्छा न रहेगी, तब धर्म कार्य का श्री गणेश करेंगे, परन्तु धन की इच्छा इस प्रकार से न तो किसी की पूर्ण हुई है और न होगी।

इसलिए यदि कुछ करना ही है तो इच्छा पूर्ति का एक ही मार्ग है वह है सन्तोष। यदि सन्तोष आपको प्राप्त हो जाए, तो सम्भव है धर्म की ओर आपकी कुछ प्रवृत्ति हो सके। अन्यथा आपकी ये सब योजनाएँ आपके साथ ही जायेंगी।

आपाधापी के इस युग में हर मनुष्य धन का दीवाना बना हुआ है। आज के सामाजिक मूल्य भी अर्थप्रधान बन गये हैं। आज के सन्दर्भ में कहा जाता है कि अर्थ है, तो कुछ अर्थ है, अन्यथा सब व्यर्थ है। इसी अर्थ की लिप्सा में वह न जाने कितना अनर्थ कर डालता है। अर्थ के लोभी मनुष्य को उचित-अनुचित, अच्छे-बुरे का कुछ भान नहीं होता। कहते हैं कि जब किसी व्यक्ति पर पिशाच लग जाता है, तो उसे कुछ होश-हवाश नहीं रहता। सन्त कहते हैं कि जिस पर धन का भूत सवार हो जाता है, उसे धन के अतिरिक्त कुछ भी नही सूझता। वह अपनी धन लिप्सा की पूर्ति के लिए सारे अनर्थ करने को तत्पर हो जाता है। कहा है-

मातरं पितरं पुत्रं, भ्रातरं वा सुहृत्तमम् ।
लोभाविष्टो नरो हन्ति, स्वामिनं वा सहोदरम्।।

लोभविष्ट मनुष्य माता, पिता, पुत्र, मित्र, स्वामी और भाई सभी को मार डालता है।

लोभाविष्ट मनुष्य की आत्मा का अधःपतन हो जाता है। उसमें स्वार्थपरता, हृदयहीनता और निष्ठुरता जैसी दुर्वृत्तियाँ पनप जाती हैं। उसके हृदय में भड़की असन्तोष की आग में उसकी निराकुलता और शान्ति स्वाहा हो जाती है। इस तृष्णा की आग में मनुष्य के समस्त सद्गुण और उसकी सभी कोमल मानवोचित भावनाएँ दग्ध हो जाती हैं।

एक सेठ था। उसे व्यापार के लिए विदेश जाना था। उसने अपनी सारी सम्पत्ति को बेचकर एक बहुमूल्य रत्न खरीदा, उसे अपनी पत्नी को सौंपकर वह विदेश रवाना हो गया। रवाना होते-होते उसने अपनी पत्नी से कहा- ''यह मेरे जीवन भर की पूँजी है, इसे सम्हाल कर रखना।'' सेठ की पत्नी धर्मपरायण थी। पति के विदेश चले जाने के बाद वह अपना अधिकांश समय भगवान् के चरणों में बिताती थी। वह प्रतिदिन अपने उद्यान के चैत्यालय में वीणा-वादन के साथ भावपूर्ण भक्ति किया करती थी। उसकी भक्ति से प्रभावित होकर एक हिरण वहाँ प्रतिदिन आता था। वह भी सेठ की पत्नी के साथ भक्ति रस में विभोर होता और अन्त में जाते समय अपने मुँह से एक कीमती रत्न उगलकर जाता था। सेठानी उसे उठाकर अपने घर के कक्ष में सुरक्षित रख लेती थी। यह रोज का क्रम था। प्रतिदिन सेठानी भक्ति करती, हिरण आता और एक रत्न उगलकर चला जाता। बारह वर्षों में रत्नों का भण्डार भर गया।

इधर सेठ का खूब अच्छा व्यापार चला। बारह वर्षों के बाद उसे अपने घर की याद आयी। अपनी सारी सम्पत्ति के मूल्य में उसने पाँच कीमती रत्न खरीदे। रत्नों को लेकर वह घर आया। पत्नी ने अपने पति का आत्मीयतापूर्ण स्वागत किया। पति ने अपनी विदेश यात्रा की कथा सुनाते हुए पाँचों रत्न पत्नी के सामने रख दिये। पत्नी ने सहज भाव से उन रत्नों को देखा और कहा- ''बस इन पाँच रत्नों के पीछे आपने बारह वर्ष बिता दिये। मेरे पास तो पूरा कक्ष इन रत्नों से भरा है।'' पत्नी ने रत्नों से भरे भण्डार को खोलकर पति को दिखाया। पति की आँखें चौधियाँ गई। उसने आश्चर्यपूर्वक पत्नी से पूछा- ''यह सब कैसे हुआ!'' पत्नी ने सब कुछ सच-सच बता दिया। सेठ को विश्वास नहीं हुआ। उसे अपनी पत्नी के चरित्र पर सन्देह होने लगा। सेठ की पत्नी ने कहा- यदि आपको मेरे वचनों पर विश्वास नहीं हो रहा है तो आप कल देख लेना, मै भक्ति करूँगी, हिरण आएगा और रत्न गिराकर जाएगा।

अगले दिन सेठ की पत्नी ने अपने क्रमानुसार भगवान् की भक्ति की। हिरण समय पर आया। भक्ति रस में विभोर हुआ। और जाते समय एक रत्न उगलकर जाने लगा। सेठ छिपकर सब कुछ देख रहा था। हिरण को रत्न उगलते

देख उसके ऊपर धन का भूत सवार हो गया। उसने सोचा इस हिरण के पेट में अनगिनत रत्न हैं। क्या भरोसा यह कल से आये न आये। अतः इसके पेट के सारे रत्न निकाल लेना चाहिए। इसी इरादे से उसने अपना निशाना साधा। पत्नी ने ऐसा करने से मना किया पर उस पर तो धन का भूत सवार था उसने पत्नी की एक न सुनी और अपना तीर हिरण पर चला दिया। पत्नी सामने आ गई। वह तीर उसे लगा और वह वहीं पर ढेर हो गई। धन के दीवाने सेठ ने पत्नी की ओर देखे बिना उस हिरण का पीछा किया और उसे मार गिराया। उसने हिरण के पेट को चीरकर देखा, पर उसे एक भी रत्न नहीं मिला। उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। इधर पत्नी के प्राण पखेरू उड़ चुके थे। अब वह रत्नों के भण्डार में पहुँचा तो देखता है, वहाँ सारे रत्न कोयले के रूप में परिणत हो चुके हैं। इसे वह सहन नहीं कर सका और वहीं गिरकर अचेत हो गया। धन के पीछे उसे अपनी प्राण प्यारी पत्नी को खोना पड़ा, देवता सम उपकारी उस हिरण को मार डाला और सारा धन भी विनष्ट हो गया। धन की दीवानगी क्या नहीं कराती। अंग्रजी में कहावत है-

Covetry is the cause of many distours.

''लुब्धता अनेक विपत्तियों का कारण है।''

धनान्धता में क्या नहीं होता। धन का लोभी मनुष्य सारे अनर्थों पर उतारू हो जाता है। पश्चिमी विचारक ''काउली'' ने लिखा है-

Gold begets in brethren hate.
Gold in families debate.
Gold does friendship saperate.
Gold doe

धन भाईयों के हृदय में घृणा पैदा कर देता है, धन परिवारों में विवाद उत्पन्न कर देता है, धन मित्रों को अलग-अलग कर देता है। और गृहयुद्धों का जनक भी धन है।

धन सम्पदा से महत्त्वपूर्ण जीवन है। सन्त कहते हैं- ''जड़ धन की नहीं जीवन धन की चिन्ता करो।'' सम्पत्ति कभी किसी के साथ नहीं जाती। जड़ धन भी तभी तक उपयोगी है, जब तक जीवन है। जीवन निर्वाह के लिए धन कुछ

उपयोगी हो सकता है। उसके लिए धर्नाजन करना बुरा नहीं है। पर पूरा जीवन ही धन के लिए समर्पित कर देना। कौन सी बुद्धिमानी हैं? तुम सारी जिन्दगी धन बटोरते हो, पर अन्त में तो सब कुछ छोड़कर जाना ही पड़ता है? जिसे छोड़कर जाना है उसके पीछे अपनी कीमती श्वासें खपा देना नादानी है। अपने जीवन के निर्वाह के लिए जितना धन आवश्यक है उसका संग्रह करो, पर उसके प्रति अधिक आसक्ति मत रखो। सन्तोष ही सबसे बड़ा धन है। यदि तुम्हारे मन में सन्तोष है तो तुम अल्पधनी होने के बाद भी सुखी रह सकते हो। सन्तोष के अभाव में विलगेट्स जैसे धनी-मानी लोग भी दुःखी है। गरीबी और अमीरी का आधार बाहरी विपन्नता और सम्पन्नता नहीं है, आन्तरिक चाह है। भूखा वह नहीं है जिसके पास भोजन नहीं और खाने की इच्छा भी नहीं। भूखा तो वह है जिसने लड्डू खा लिए हैं, दो थाली में हैं, फिर भी जिसकी दृष्टि पड़ोसी की थाली पर लगी है। जिस मनुष्य में जितनी अधिक चाह है, वह उतना ही अधिक गरीब है। कहा है-

''को हि दरिद्रो? यस्य तृष्णा विशाला''

गरीब वही है जिसके अन्दर तृष्णा है। धन के अभाव में भी व्यक्ति के मन में यदि सन्तोष है। तो वह सुखी रह सकता है, क्योंकि सन्तोष ही सबसे बड़ा धन है और सन्तोष के अभाव में बड़े-बड़े धनपति भी दुःखी रहते हैं। मै तो कहता हूँ कि गरीब की अपेक्षा अमीरों की चाह अधिक होती है। गरीब हमेशा सौ दो सौ की चाह रखता है पर अमीर सदैव लाख दो लाख की बात करता है। धन की सम्पन्नता के साथ मन की चाह भी बढ़ती जाती है। अंग्रेजी विद्वान् 'काउली' ने लिखा है-

Poverty wants some things, luxury wants many, avarice all things. (Cowley)

''गरीबी कुछ चीजें माँगती हैं, विलासिता चाहती हैं बहुत सी चीजें, किन्तु लोभ प्रेरित इच्छा सब कुछ चाहती है।''

गरीबी नहीं, तृष्णा दुष्कर्मों की जननी है। मनुष्य पाप अपनी आवश्यकताओं

की पूर्ति के लिए नहीं करता। पाप का कारण उसके मन में पल रही आकांक्षाएँ और तृष्णा है। कहावत है- ''मनुष्य अपने पापी पेट के लिए पाप करता है।'' आचार्य महाराज कहते हैं- ''पेट पापी नहीं है, पापी है- मनुष्य की वृत्ति, जो तृष्णा से उत्पन्न होती है। फिर पेट की एक निश्चित साइज निर्धारित की है। लेकिन पेटी का? पेटी का कोई पैमाना नहीं। प्रकृति ने यदि पेट दिया है, तो उसे भरने के लिए रोटी भी दी है। बच्चे के जन्म लेते ही प्रकृति उसके पेट के लिए माँ के लिए रोटी भी दी है। बच्चे के जन्म लेते ही प्रकृति उसके पेट के लिए माँ के दूध की व्यवस्था कर देती है। प्रकृति कभी मनुष्य को दुःखी नीं नहीं करती। दुःखी करती है, उसकी असीम आकांक्षाएँ। इसीलिए आचायश्री कहते हैं पेट के लिए नहीं, पेटी के लिए पाप होता है। अतः पेटी की नहीं, पेट की बात सोचो। आवश्यकता मूलक जीवन जीने का प्रयत्न करो। आकांक्षाएँ आत्मा का दरिद्र बनाती है। एक अंग्रेजी विचारक ने ठीक लिखा है-

Contentment is natural wealth, luxury is artificial poverty

सच्च धन सन्तोष ही है। विलासिता तो दरिद्रता है जो कृत्रिमता के आवरण में छिपी रहती है।

अपनी विलासिता पूर्ण आकांक्षाओं और लिप्सा के कारण ही मनुष्य ज्यादा अनर्थ करता है।

हर मनुष्य यह जानता है कि धन सम्पदा उसके साथ जाने वाली नहीं है। एसे यह भी पता है कि मैं यदि अपने पुत्र-पौत्रों के लिए भी जोड़कर जाऊँ तो वे उसका उपभोग करें ही, यह कोई जरूरी नहीं है। हर किसी प्राणी का पुण्य होता है। चक्रवर्ती के साथ उसका सारा पुण्य चला जाता है। चक्रवर्ती का बेटा कभी चक्रवर्ती नहीं होता। कहावत है- ''पूत सपूत तो का धन संचय और पूत कपूत तो का धन संचय।'' पुत्र के सपूत होने पर धन संचय करने की क्या आवश्यकता है। यदि वह समर्थ और योग्य होगा तो स्वयं अर्जित कर लेगा और यदि कपूत पुत्र के हाथ में तुमने सब कुछ छोड़ दिया तो वह उसे उड़ा देगा। अतः फिर अधिक जोड़ने की चाह क्यों?

कुछ लोग भविष्य की चिन्ता में बड़े व्याकुल रहते हैं। भविष्य की चिन्ता में अपने वर्तमान को खोना बुद्धिमानी नहीं है। भविष्य के लिए जोड़ा गया धन तुम्हें सुख दे या न दे, पर उसका सदुपयोग करके वर्तमान को तो तुम सुखी बना ही सकते हो। जो कल की चिन्ता में आज को विफल कर देते हैं वे जीवन में कभी सफल नहीं हो सकते। भविष्य की चिन्ता से मुक्त होकर आज को उज्जवल बनाता है, उसका कल भी उज्जवल होता है।

लोभी मनुष्य की वृत्ति बड़ी विचित्र होती है। उसे अपने जीवन से भी अधिक धन की चाह होती है। ऐसे लोग ''चमड़ी जाए पर दमड़ी न जाए'' के सिद्धान्त पर चलने वाले होते हैं। अपार धन सम्पत्ति के स्वामी होने के बाद भी वे न तो उसका उपयोग करते हैं, न ही किसी को दे पाते हैं। रात दिन अपनी सम्पत्ति को बढ़ाने में ही लगे रहते हैं। सही पुछो तो उनकी आत्मा धन में ही बसी रहती है। ऐसे लोगों के लिए कुरल काव्य में लिखा है-

जिस आदमी ने अपने घर में ढेर सारी सम्पत्ति जमा कर रखी है, पर उसे उपयोग में नहीं लाता, उसमें और मुर्दे में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि वह उससे कोई लाभ नहीं उठाता।

यह बात बिल्कुल यथार्थ है, क्योंकि ऐसे लोगों की आत्मा तो मर ही चुकी होती है। जैन शास्त्रों में ऐसे ही एक मम्मन सेठ की कथा आती है।, जो अपनी धन लिप्सा के कारण दुर्गति का पात्र बना।

मम्मन सेठ राजगृही का एक बहुत बड़ा श्रेष्ठि था। वह बड़ा लोभी और कंजूस था। वृद्धावस्था के कारण उसका शरीर दिनों-दिन जर्जर होता जा रहा था पर उसके मन की तृष्णा दिनों-दिन बढ़ती जा रही थी। वह ढंग से खाता-पीता भी नहीं था। प्रायः जो लोग कंजूस होते हैं वे न तो अपनी सम्पत्ति का स्वयं उपभोग कर पाते हैं और न ही दूसरों को उदारतापूर्वक दे पाते हैं। यही स्थिति उसकी थी। इसीलिए अपने सारे बच्चों को अपने से अलग कर उनका सेपरेशन कर दिया था। उसके बाद भी बच्चों को खर्च करता देख उसे बड़ी तकलीफ होती थी।

एक दिन उसने अपनी सारी सम्पत्ति का आकलन किया और सोचा कि कहीं कोई लूट न ले जाये। अतः उसने सारी सम्पत्ति को बेचकर एक रत्नजड़ित

स्वर्ण का बैल बनवाया। उसे अपने घर के तहखाने में रख दिया। तभी उसके मन में एक विचार आया कि मैंने अपनी कमाई से एक बैल तो तैयार कर ही लिया है, अच्छा होता इसका जोड़ा और तैयार हो जाता। पर अब जोड़ा कैसे तैयार किया जाये? सारी सम्पत्ति तो इसी बैल में लग गई। लेकिन अभी मुझमें बल है, सत्व है, मेहनत करके मैं फिर से धन जोड़ लूँगा और अपना जोड़ा तैयार करके ही छोड़ूँगा।

बरसात का समय था। उसने देखा नदियाँ अपने पूर पर हैं। उनमें बड़े-बड़े लकड़ियों के लट्ठ अपने आप बहे चले जा रहे हैं। उसने सोचा बरसात में लकड़ियों कीमत भी ज्यादा होती है, यदि में नदी तक जाकर लकड़ियों को बटोर लूँ तो इसकी अच्छी कीमत मिल सकती है। घर से वह लंगोटी में निकला इसलिए कि कपड़े भीग न जायें। पानी में गया और बहती हुई लकड़ियों को जल की तेज धार से खींचकर किनारे पर लाने का प्रयत्न करने लगा। महारानी चेलना राजगृही के राजमहल के झरोखे से सब कुछ देख रहीं थीं। उसे देखते ही महारानी का मन दया से द्रवीभूत हो गया। उसने महाराजा श्रेणिक से कहा कि ''आपके राज्य में ऐसा दीनहीन व्यक्ति है जो इतनी मूसलाधार वर्षा में अपनी जान की बाजी लगाकर लकड़ियों को निकाल रहा है। आप उसे बुलाकर उसकी समस्या का समाधान कीजिए।''

सैनिकों द्वारा सेठ को दरबार में बुलवाया गया। राजा श्रेणिक ने उससे लकड़ियाँ बटोरने का कारण पूछा- ''भाई तुम्हें आखिर ऐसी क्या कमी आ पड़ी है, जो तुम इस विषमतम परिस्थिति में लकड़ियाँ बटोर रहे हो?''

सेठ ने कहा, क्या करूँ। मेरे पास एक बैल है, उसका जोड़ा नहीं है मैं चाहता हूँ, उसका जोड़ा पूरा हो जाए, तभी मैं अपना काम पूरा कर सकूँगा।

सम्राट श्रेणिक ने कहा- ''बस इतनी सी बात! मेरी गौशाला में चलो और तुम्हें जो भी बैल पसन्द हो ले लो।'' सम्राट के साथ वह गौशाला में गया। एक से एक उत्तम नस्लों के बैलों को दिखाया गया। पर मम्मन सेठ को उनमें से कोई भी बैल पसन्द नहीं आया। उसने कहा- ''राजान्! बेशक तुम्हारी गौशला में एक से एक बैल हैं पर मेरे बैल के बराबरी का एक भी नहीं है।'' श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा- ''आखिर ऐसा कौन सा बैल है तुम्हारा! लाकर

बताओ।'' मम्मन ने कहा- ''राजन् मै अपने बैल को दरबार में पेश नहीं कर सकता। यदि मेरे बैल को देखना चाहते हो तो आपको मेरे घर पर चलना होगा।'' राजा श्रेणिक, रानी और अपने मन्त्री अभयकुमार को लेकर मम्मन सेठ के यहाँ पहुँचे। मम्मन सेठ ने सबको अपने तहखाने में ले जाकर अपना रत्नजड़ित स्वर्ण बैल दिखाते हुए कहा- ''महाराज! मुझे ठीक ऐसा ही दूसरा बैल चाहिए।'' श्रेणिक विस्मित और कुपित होकर बोला- ''भले आदमी! इत्ने रत्नों और सम्पत्ति के स्वामी होने के बाद भी तुम अपनी जिन्दगी दाँव पर लगा रहे हो। तुम्हारें यहाँ किसी चीज की कमी नहीं है, फिर भी तुम लोभवश और अधिक सम्पत्ति जोड़ना चाहते हो। मान लो, एक बैल और हो भी जाए, तो भी तुम्हारी लालसा शान्त नहीं होगी। याद रखो,तुम्हारी सारी सम्पत्ति यहीं धरी रह जायेगी। सुई की नोंक बराबर सम्पत्ति भी तुम्हारे साथ नहीं जायेगी। फिर भी तुम इस सम्पत्ति के व्यामोह में न खाते हो, न खर्च करते हो, न ही किसी को देते हो। धिक्कार है, तुम्हारे इस जीवन को।''

राजा की फटकार का मम्मन पर कोई असर नहीं पड़ा। उसने राजा की सारी बातें चुपचाप सुन लीं और उन्हें विदाकर अपने धन्धे में लग गया। शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि अपनी इसी धन लिप्सा के कारण वह मरकर सातवें नरक में उत्पन्न हुआ। धन ही जिनके जीवन का साध्य है, उनकी यही परिणति होती है।

धन को जीवन निर्वाह का साधन मानकर चलना चाहिए। धन जीवन का साध्य नहीं है। धन जीवन की आवश्यकता हो सकती है, पर अनिवार्यता नहीं। सन्त कहते हैं जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक धन का संचय करो, पर उसे आसक्ति का रूप मत लेने दो। धन की आसक्ति मनुष्य को एक ऐसे अन्धकूप में ढकेल देती है जिससे निकल पाना बहुत कठिन होता है। अपेक्षा है धन की आवश्यकता और अनिवार्यता के अन्तर को समझने की, साध्य और साधन के भेद को जानने की, तभी जीवन को समृद्ध और सुखी बनाया जा सकता है।

सत्याचरण ही भगवान् की पूजा

सत्य शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। सत्य चित्त के अन्वेषण और अनुभूति का विषय है। सत्य को परमेश्वर कहा गया है सत्य ही भगवान् है। हम सत्य का अनुभव कर सकते हैं, उसका साक्षात्कार कर सकते हैं। सत्य को उपलब्ध किया जा सकता है, किन्तु उसका वर्णन नहीं कर सकते। सत्य अकथ्य है, अलभ्य नहीं। अकथ्य है, किन्तु संवेदनगम्य है। सत्य की उपलब्धि ही परमात्मा की उपलब्धि है। सन्त कहते हैं सत्य की प्राप्ति के लिए तुम्हें बाहर कहीं भटकने की जरूरत नहीं है। सत्य तुम्हारे भीतर है। एक बार झांक कर देखने की कोशिश करो, तुम सत्य को उपलब्ध हो जाओगे।

गाँधीजी एक विदेशी महिला ने पूछा- Where i can find the truth? सत्य को कहाँ पा सकते हैं? गाँधी जी ने जबाब दिया- One can find the truthin his heart and no where else. सत्य को स्वयं के हृदय में ही पा सकते हैं, अन्यत्र कहीं नहीं।

भारतीय परम्परा में सत्य को नारायण कहा गया है। जैनधर्म में कहा गया है- 'सच्चं खु भयवं' सत्य ही भगवान् है। सत्य रूप भगवान् की उपलब्धि के लिए सत्याचरण अनिवार्य है। सत्य नारायण कोई व्यक्ति या देवता नहीं, वरन् सच्चाई को मन, वाणी और व्यवहार में प्रतिष्ठापित करने की प्रगाढ़ आस्था है। जो सत्यनिष्ठ हैं, वही सत्यनारायण का भक्त और साधक है। सत्याचरण को अपनाये बिना केवल कथा सुनने मात्र से कोई भगवान् नहीं बन सकता। भगवत्ता की उपलब्धि का आधार है-सत्याचरण।

आज जिस सत्य धर्म की चर्चा की जा रही है वह सत्य नहीं, सत्याचरण की बात है। सत्य के विषय में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। सत्याचरण से ही सत्य का उपलब्ध किया जा सकता है। सत्य आचरण में निहित है। सत्य आख्यान नहीं, आचरण है। सत्य मात्र शाब्दिक अभिव्यक्ति का साधन नहीं, अनुभूति की साधना है। सत्यमयी आचरण से ही सत्य को उपलब्ध किया जा सकता है। सत्याचरण ही सत्य की सबसे बड़ी पूजा है। अंग्रेजी विचारक इमर्सन ने ठीक लिखा है-

The greatest homage we pay to truth is use it.

''सत्य का सबसे बड़ा अभिनन्दन जिसे हम कर सकते हैं, वह है सत्य का सर्वतोमुखी आचरण।''

सत्याचरण वही कर सकता है जिसके हृदय में परमात्म स्वरूप सत्य प्रतिष्ठित रहता है। उसकी प्रत्येक क्रिया सत्य से प्रेरित एवं संचालित रहती है। उसके हृदय में विराजित सत्य उसकी समस्त शुभेच्छाओं को पूर्ण कर देता है।

सत्याचरणी व्यक्ति मन, वाणी और व्यवहार तीनों में सत्य को उतारता है। वह मन में कभी असत्य विचारों को उत्पन्न नहीं होने देता, वाणी से कभी असत्य का उच्चारण नहीं करता तथा उसके व्यवहार में कभी असत्य का अवलम्बन नहीं होता। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सत्य का ही आश्रय लेता है। वह विषमतम परिस्थितियों में भी अपनी सत्यनिष्ठा से विचलित नहीं होता। मनुष्य क्रोध, लोभ, भय, अहं, हास्य, अंधविश्वास आदि विकारों के वशीभूत होकर सत्य से चूक जाता है, किन्तु परमात्मा को सत्यमय मानने वाला सत्याचरणी सर्वत्र सत्य के ही रंग में रंगा रहता है। उसके प्रत्येक विचार और व्यवहार में सत्य प्रतिबिम्बित होता रहता है। सत्याचरण को हमें तीन स्तर पर समझना चाहिए- भावना, वाणी और व्यवहार। सत्य भावना, सत्यवाणी और सत्य व्यवहार की त्रिपुटी ही सत्याचरण है।

सत्य भावना - सत्य भावना का अर्थ है- विचारों की शुद्धि, मन की पवित्रता, निष्कलुष, निष्कपट और निश्छलवृत्ति। जिसके हृदय में सत्यस्वरूप परमात्मा विराजमान हो जाते हैं वह कभी किसी के भी प्रति दुर्भावना नहीं रखता। उसके अन्तरंग में कलुषता नाम मात्र को भी नहीं रहती। ऐसे लोग सरलता की प्रतिमूर्ति बन जाते हैं सन्त कहते हैं अपनी भावना को विशुद्ध बनाओ। भाव शुद्धि के अभाव में धर्म नहीं हो सकता। भगवान् महावीर ने कहा है- 'धम्मो सुद्धस्स चेट्ठई' धर्म पवित्र हृदय में ही बसता है। अतः मन को पवित्र बनाने का यत्न करो। असत्य मन को अपवित्र बनाता है। सत्य की पहली कड़ी मानसिक पवित्रता है। जब तक मन में सत्य नहीं आता, मन में पवित्र विचार और संकल्प उत्पन्न नहीं होते, मन सत्य के प्रति दृढ़ नहीं होता, तब तक वाणी का सत्य, सत्य नहीं माना

जाता। जब तक मन में छल-कपट और झूठ भरा रहता है, तब तक वाणी से सत्य बोला जाने पर भी वह सत्य जैन धर्म की दृष्टि में असत्य ही माना जाता है। मानसिक सत्य के अभाव में वाचिक सत्यटिक नहीं सकता। सत्य का मूल सरलता है और असत्य का मूल क्रोध, लोभादि विकार है। अतः क्रोधादिक कषायों से दूषित चित्त की भूमि में सत्य का अंकुरण नहीं होता।

सत्य की आराधना के लिए मन की पवित्रता अनिवार्य है। इसलिए सर्वाधिक महत्त्व भावनात्मक सत्य का है। सन्त कहते हैं- सत्य रूप परमात्मा को हृदय में विराजमान करना चाहते हो, तो अपने मन को मन्दिर बनाओ, क्योंकि परमात्मा मन्दिर में ही विराजते हैं। जिसके मन मन्दिर में सत्य परमात्मा विराजमान होते हैं वह छल-कपट, रागद्वेष आदि से ऊपर उठ जाता है। सत्य का आराधक व्यक्ति सत्य की महिमा को जानता है। वह विषमतम परिस्थिति में भी सत्य से विचलित नहीं होता। उसकी भावना कभी विकृत नहीं होती। वह सभी का आदर्श और पूज्य बन जाता है। भावनात्मक सत्य की महिमा बताते हुए कुरल काव्य में लिखा है-

सत्ये शाश्वत कल्याणे निमग्नमं यस्य मानसम्।
ऋषिभ्यः स महान् नूनं दानिभ्यश्च वरो मतः।।

''जिसका मन सत्यशीलता में निमग्न है, वह पुरुष तपस्वी से भी महान् और दानी से भी श्रेष्ठ है।''

वस्तुतः व्रत, तप, दान आदि भी तभी सार्थक हो पाते हैं जब उनमें सत्यता हो। सत्यविहीन आचरण आडम्बर माना जाता है। इसलिए कहते हैं कि सत्य ही सबसे बड़ा तप है। कहा भी है-

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप।।

सत्य से बढ़कर कोई तप, जप, नियम, संयम नहीं है। जिसके हृदय में सत्य सजग प्रहरी की भाँति विराजमान रहता है, बुराईयाँ उसके हृदय में प्रवेश नहीं कर पाती। उसके मन की समस्त मलिनताएँ दूर हो जाती हैं और सत्य रूप

परमात्मा (शुद्धात्मा) उसमें विराजमान हो जाता है।

महाभारत के युद्ध के सत्रह दिन बीते। अनेक योद्धा हताहत हुए। दुर्योधन बहुत चिन्तित हुआ। उसने द्रोणाचार्य से पूछा कि अब बचने का उपाय क्या है? द्रोणाचार्य ने कहा- इसका उपाय तुम युधिष्ठिर से पूछो। ''युधिष्ठिर! वह तो हमारा शत्रु है, भला वह हमें उपाय कैसे बतायेंगे।'' दुर्योधन ने विस्मय से पूछा। द्रोणाचार्य ने कहा- ''नहीं, तुम युधिष्ठिर को जानते नहीं हो। युधिष्ठिर सत्यवादी और निश्छल व्यक्ति है। उसकी दृष्टि में मात्र युद्ध की भूमि तक तुम शत्रु हो, बाद में नहीं। वह तुम्हें सही मार्गदर्शन देगा।'' दुर्योधन अचम्भित रह गया। वह युधिष्ठिर के पास पहुँचकर बोला- ''सत्रह दिन बीत गये हैं, हम इन सत्रह दिनों में युद्ध की भयावह स्थिति को देख लिया है। अठारहवें दिन की मुझे चिन्ता है। अब क्या होगा?'' युधिष्ठिर ने कहा- ''आज युद्ध समाप्त हो जायेगा और तुम युद्ध हार जाओगे।'' दुर्योधन ने कहा- ''कुछ उपाय है बचने का?'' युधिष्ठिर बोले- ''उपाय है, तुम्हारे घर पर ही है।'' मेरे घर पर! विस्मय के साथ दुर्योधन ने पूछा। युधिष्ठिर ने निश्छल भाव से कहा- ''माता गान्धारी पतिव्रता नारी है। उन्होंने जीवन में किसी की ओर देखा तक नहीं है। यदि तुम निर्वस्त्र होकर उनके पास चले जाओ और वह एक बार तुम्हें देख लेंगी तो तुम्हारा शरीर वज्रमय हो जायेगा। फिर तुम अजेय हो जाओगे।'' दुर्योधन बड़ा प्रसन्न हुआ। वह सुबह स्नान कर अंधेरे में ही निर्वस्त्र चला जा रहा था। राह में श्रीकृष्ण मिल गये, वे सब कुछ समझ गये, यहाँ कुछ करना होगा वरना सारा गड़बड़ हो जाएगा। दुर्योधन यदि वज्रमय हो गया तो फिर इसका अन्त कैसे होगा? श्रीकृष्ण ने कहा- ''दुर्योधन! माँ के पास जा रहे हो। सोच लो एकदम नग्न होकर जाओगे क्या? कम से कम अपने गुप्तांग को तो ढांक लो।'' दुर्योधन को बात समझ में आ गई और उसने केले के पत्ते से अपने गुप्तांग को ढांक लिया, फिर माँ के पास पहुँचा और कहा- ''माँ मुझे आज देख लो। आज यदि तुम मुझे नहीं देख सकी तो जीवन में दुबारा कभी नहीं देख सकोगी।'' दुर्योधन के आग्रह पर गान्धारी ने पट्टी खोलकर उसे देखा उसकी दृष्टि के तेज के प्रताप से दुर्योधन का सम्पूर्ण अनावृत शरीर वज्रमय हो गया, मात्र गुप्तांग को छोड़कर। भीम ने अपने गदे का प्रहार उसी स्थान पर किया, जिससे उसकी मृत्यु हुई। कथा का विस्तार अलग है।

इस प्रसंग में मैं सिर्फ युधिष्ठिर की निश्छलता की बात कर रहा हूँ। जो अपने शत्रु के प्रति भी सरल रहे हैं। वे सत्यवादी और धर्मपरायण के रूप में जाने जाते हैं। कुरल काव्य में ठीक ही लिखा है-

''जिसका हृदय सत्य से पवित्र है, वह सबके हृदय में शासन करता है।''

वाणी का सत्य - वाणी के सत्य का अर्थ है- हित-मित-प्रियवचन बोलें। 'मेरी भावना' में आप पढ़ते हैं '**अप्रिय कटुक कठोर शब्द नहीं कोई मुख से कहा करें।**' कर्कश, कठोर मर्मघाती और अपिगय शब्दों का प्रयोग नहीं करें। पापपूर्ण वचन न कहें। पापपूर्ण वचनों का प्रयोग असत्य आचरण है। कठोर-कर्कश वचन जिससे किसी को दुःख पहुँचे, सन्ताप हो, उसके मर्म को ठेस लगे ऐसे अप्रिय वचन बोलना भी असत्य बोलना अधर्म है। अतः सत्य बोलें, हित-मित-प्रिय बोलें। हित-मित-प्रिय बोलना ही वाणी केस्तर का सत्याचरण है। केवल सत्य बोलना ही सत्याचरण नहीं है। सत्य के साथ हित-मित-प्रिय भी होना चाहिए। वचन महत्त्वपूर्ण नहीं होते, महत्त्वपूर्ण है वचन से जुड़े सन्दर्भ। सत्यवचन के साथ भावना भी सत्य होनी चाहिए। जो वाणी हितकर और प्रिय नहीं, वह सत्य नहीं हो सकती। महाभारत के वनपर्व में लिखा है-

यद् भूतहित-मत्यन्तं तत् सत्यमिति धारणाः।
विपर्यय कृतोऽधर्मः पश्य धर्मस्य सूक्ष्मतां।।

जो जीवों का हितकारी है वही सत्य है, वही धर्म है, जिसमें हित नहीं, वह अधर्म है। सत्य के साथ पहली शर्त हित का जुड़ना है। सत्य धर्म के विषय में शास्त्रों में लिखा है-

सत्यं प्रियं हितं चाहुः सुनृतं सुनत व्रताः।
तत् सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत्।।

सत्य, प्रिय और हितकारी वचनों को ही सत्यव्रतियों ने सत्य कहा है। अप्रिय और अहितकारी सत्य भी असत्य ही है। इस रहस्य को समझने की कोशिश करें। वाणी से महत्त्वपूर्ण भावना है। शास्त्रकार कहते हैं कि अप्रिय और अहितकर सत्य भी असत्य है तथा किसी के हित के लिए बोला गया असत्य भी

सत्य है। कुरल काव्य में लिखा है-

संकटाकीर्ण जीवानामुद्धार करणेच्छया।
कथिता साधुभिर्जातुः मृषोक्तिरमृषैव सा।।

अर्थात् संकट में फँसे हुए प्राणियों के उद्धार की इच्छा से बोला गया असत्य वचन भी सत्य ही है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि ''हम तो कड़वा सच कहते हैं।'' अरे!भाई सच में कड़वाहट की बात ही कहाँ है? सच तो प्रिय और अमृतोपम है। सत्य कभी कड़वा नहीं होता और जो कड़वा हो वह सत्य नहीं कहला सकता, क्योंकि वाणी में सत्यता के साथ-साथ प्रियता भी जुड़ी होनी चाहिए। सत्यवादी की महिमा का उल्लेख करते हुए एक आचार्य ने कहा-

प्रियः सत्यं वाक्यं हरति हृदयं कस्य न सखे।
गिरं सत्यां लोकः प्रतिपदमिमामर्थयति च।।
सुरा सत्याद् वाक्याद् ददति मुदिता कामिक फलं।
अतः सत्याद् वाक्याद् व्रतमभिमतं नास्ति भुवने।।

''सत्यनिष्ठ व्यक्ति का प्रिय सत्य वाक्य किसके हृदय को प्रभावित नहीं करता। सबके हृदय का हरण कर लेता है। जनता उसकी सत्यवाणी का एक-एक पद सुनना चाहती है। देवता सत्यवचन से प्रसन्न होकर सत्यनिष्ठ का यथेष्ट फल प्रदान करते हैं। अतः मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि सत्य वाक्य से बढ़कर अभीष्ट संसार में कोई दूसरा व्रत नहीं है।''

पश्चिमी विद्वान प्लेटो ने भी कहा है-

There is nothing so delightful as the hearing or the speaking the truth.

''सत्यवचन सुनने या बोलने से बढ़कर आनन्दप्रद संसार में कोई चीज नहीं है।''

वाणी का अद्भुत प्रभाव है। सत्यवाणी एक ऐसा वशीकरण है जो

हजारों को एक सूत्र में बाँधने की क्षमता रखती है। तो वहीं असत्य अप्रिय वाणी उस बारूद की भाँति है जो अपने विस्फोट से हजारों आदमी का विनाश कर देती है। शब्द, शब्द है, जो कर्ण से प्रविष्ट होकर पूरे हृदय को प्रभावित कर देते है। जैसे शान्त सरोवर में डाला गया एक छोटा सा पत्थर उसमें वलय उत्पन्न कर पूरे सरोवर में व्याप्त हो जाता है, वैसे ही हमारे कर्ण से प्रविष्ट एक छोटा सा शब्द पूरे जीवन को प्रभावित कर देता है। कहावत है- ''शस्त्र का घाव भर सकता है, पर शब्दों का नहीं।'' शब्दों का घाव भव-भवान्तरों तक दृढ़ बना रहता है। द्रोपती के द्वारा हास्य में कहे एक कटु वाक्य 'अन्धे का पुत्र अन्धा' ने भाईयों में महाभारत करा दिया था। इसलिए सन्त कहते हैं कि वाणी को मधुर बनाओ। वह वाण नहीं, वीणा बनें। अप्रिय कटुक कठोर शब्दों का भूलकर भी उच्चारण न करें। भगवान् महावीर कहते हैं-

मुहुत्त दुक्खा उ हवन्ति कंटया
अओमया ते वि तओ वि सु उद्धरा
वाया दुरूत्ताणि दुरूद्धराणि
बेराणुबंधिनी महव्भयाणि।। दस वैकालिक 3/7

''लोहे के काँटे भी शरीर में चुभ जायें तो कुछ ही समय तक कष्ट देते हैं और कुशल व्यक्ति बिना विशेष कठिनाई के कुशलता से उसे निकाल देते हैं। किन्तु दुर्वचन के काँटे हृदय को इस तरह बींध देते हैं कि उनका निकालना कठिन हो जाता है। वो जन्म जन्मान्तरों तक बैर की परम्परा को कायम कर देते हैं। ऐसे वचन नरकादि नीच गतियों में ले जोन के कारण अत्यन्त भयानक होते हैं।''

एक ब्राह्मण था, बड़ा गरीब था। एक दिन वह अपनी गरीबी से तंग आकर आत्म-हत्या करने के विचार से जंगल की ओर बढ़ गया। भयानक जंगल में उसे एक शेर मिला। शेर को देखकर वह बिल्कुल भी नहीं घबड़ाया। उसने शेर के सामने जाकर कहा कि आज मुझे खा लो, मैं वैसे ही मरने जा रहा हूँ। मुझे इस बात की प्रसन्नता होगी कि कम से कम मरते समय तो किसी के काम आया। शेर को उसकी बात आश्चर्य हुआ। उसने उस ब्राह्मण से पूछा कि भाई! मौत से सारी दुनिया डरती है, पर तुम मौत को क्यों आमन्त्रित कर रहे हो? ब्राह्मण ने अपनी

व्यथा सुनाते हुए कहा कि मैं अत्यन्त गरीब हूँ, घर में खाने को भी कुछ नहीं है। उस पर घर में एक जवान कन्या है उसके विवाह का भी मैं कोई प्रबन्ध नहीं कर पा रहा हूँ। इसलिए सोचता हूँ कि ऐसे जीवन से तो मर जाना ही अच्छा।

ब्राह्मण की बात सुनकर शेर को दया आ गई। उसने कहा- ''मुझे तुम्हारी स्थिति पर दया आ रही है। अब मैं तुम्हारा भक्षण नहीं करूँगा। आज से तुम मेरे मित्र हो। विपत्ति में फँसे व्यक्ति का सहयोग देना बहुत बड़ा धर्म है।'' मैं अपने धर्म को निभाऊँगा। ऐसा करो मेरी गुफा में बहुत सारे लोगों के, जिनका मैं शिकार कर चुका हूँ, आभूषण पड़े हैं। तुम उन्हें ले लो और अपना काम चला लो। मेरी समझ में इससे तुम्हारी कन्या का विवाह भी हो जायेगा।

ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ। शेर की गुफा में पहुँचा तो वहाँ पड़े आभूषणों के ढेर को देखकर उसकी आँखे चमक उठीं। वह आभूषणों को लेकर वहाँ से आगे बढ़ने को हुआ तो शेर ने कहा- ''सुनो अपनी कन्या के विवाह के समय मुझे अवश्य बुलाना।'' ब्राह्मण उसे बुलाने का वादा करके अपने घर की ओर रवाना हो गया। कुछ दिन बाद उसने बड़ी धूमधाम से अपनी कन्या का विवाह किया। अपने द्वारा किये गये वायदे के अनुसार शेर को भी आमन्त्रित किया। शेर निश्चित समय पर आया। शेर को आता देखकर सभी लोग घबड़ा गये। लोगों में घबड़ाहट को रंग में भंग जानकर उस ब्राह्मण ने लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा- ''अरे घबराते क्यों हो, यह तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। यह शेर नहीं, यह तो गधा है।''

शेर के कानों में यह शब्द पड़े तो वह तिलमिला कर उल्टे पैर लौट गया। इधर सब लोग अपने अपने काम में लग गये। कुछ समय बाद ब्राह्मण को कुछ और धन पाने का लोभ लगा। वह धन पाने की कामना से शेर के पास पहुँचा। शेर बड़े गुस्से में था। शेर की मुद्रा को देखकर वह घबरा गया। शेर से क्षमा याचना करते हुए उसने गुस्से का कारण जानना चाहा। शेर ने कहा- ''कारण मैं बाद में बताऊँगा। पहले इस कुल्हाड़ी से मेरी पीठ पर प्रहार करो अन्यथा तुम जीवित नहीं बचोगे।'' ब्राह्मण ने शेर की पीठ पर कुल्हाड़ी से जोरदार प्रहार किया। शेर की पीठ से रक्त की धार बह उठी। वह एक ओर बैठ गया और कहा तुम्हारे प्रश्न

का जबाव मैं एक सप्ताह बाद दूँगा। जाओ एक सप्ताह बाद आना।

एक सप्ताह बाद ब्राह्मण शेर के पास पहुँचा। शेर का घाव भर चुका था। शेर को स्वस्थ्य देखकर ब्राह्मण ने हर्ष से कहा– ''अब तो तुम्हारा घाव भर गया।'' शेर ने जबाव दिया कि मेरी पीठ का घाव तो भर गया है। परंतु मेरे हृदय का घाव अभी तक हरा है। वह मुझे बहुत कष्ट दे रहा है। ब्राह्मण कुछ समझा नहीं। उसने पूछा कि तुम्हारे हृदय में कौन–सा घाव है? शेर ने सारी बात सुनाते हुए कहा कि उस दिन जब मैं तुम्हारी कन्या के विवाह में सम्मिलित होने आया था तब सबके मध्य तुमने मुझे जो अपमान भरे शब्द कहे थे। उन्हें मैं आज तक नहीं भूल पाया हूँ। वे आज भी चुभ रहे हैं। इसलिए मैं कह रहा हूँ कि मेरी पीठ का घाव तो भर गया पर मेरे हृदय का घाव अभी तक दुःख दे रहा है।

छुरी का तीर का तलवार का घाव भरेगा।
लगा जो जख्म जुबां का वो हमेशा हरा रहेगा।।

कुरल काव्य में कहा है– ''मर्मघातक एक ही वाक्य सारे उपकारों को नष्ट कर देता है। अग्नि का घाव तो समय पाकर भर सकता है पर वाणी का घाव कभी नहीं भरता।''

अतः मुख से कभी भी कटु–कर्कश और मर्मघाती शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण को अपनी भूल पर बड़ा पश्चाताप हुआ।

सन्त कहते हैं कि बोलने से पहले तोलो। एक–एक शब्द के पूर्व विचार करो। जो बिना विचारे कुछ भी बोल देते हैं, उन्हें कभी–कभी जीवन पर्यन्त विचारने को बाध्य होना पड़ सकता है। वाणी हमें मिली है, इसका महत्त्व समझो और सदुपयोग करो। संसार में ऐसे अनेक जीव हैं जिन्हें हम एकेन्द्रिय कहते हैं। उनके पास वाक् शक्ति ही नहीं है। दो इन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय पशु–पक्षियों तक वाक् शक्ति तो है, परन्तु उनकी अभिव्यक्ति के लिए भाषा नहीं है। संसार में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसके पास न केवल वाक् शक्ति है अपितु अभिव्यक्ति के लिए भाषा भी है। मनुष्य एक दूसरे तक अपनी बात पहुँचा सकता है, वार्तालाप कर सकता है। इतनी दुर्लभ वाणी हमें प्राप्त हुई है तो इसका सदुपयोग करें। वाणी का दुरुपयोग करने पर कभी–कभी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है उसका परिणाम

और भी विघातक हो सकता है। अतः नीतिकार कहते हैं मुँह से कटु शब्द मत बोलो। **''वचने का दरिद्रता''** वाणी बोलने में कोई पैसा नहीं लगता। तुम्हारे पास अपार शब्द सम्पदा है तो फिर बुरे वचनों का प्रयोग क्यों? वस्तुतः मुँह से दुर्वचनों का प्रयोग वैचारिक दरिद्रता का सूचक है। कुरल काव्य में लिखा है-

''जो मनुष्य सदा ऐसी वाणी बोलता है कि सबके हृदय को आह्लादित कर दे, उसके पास दुःखो की अभिव्यक्ति करने वाली दरिद्रता कभी नहीं आ पाती।''

मधुर वचन सहृदयता और वैचारिक उदारता का प्रतीक है। जबकि दुर्वचनों/अपशब्दों का प्रयोग ओछापन, वैमनस्यता और क्षुद्रता का उदाहरण है। कटु शब्दों का प्रयोग करने वालों के लिए शास्त्रकार कहते हैं-

विहाय मधुरालापं कटूक्तिं योऽथ भाषते।

अपक्वं हि फलं भुङ्कते परिपक्वं विमुच्य सः।

मीठे शब्दों के रहते हुए भी जो मनुष्य कड़वे शब्दों का प्रयोग करता है वह मानो पके फलों को छोड़कर कच्चे फल खाता है।

नीतिकार कहते हैं- नम्रता और प्रिय सम्भाषण मनुष्य के दो ही आभूषण हैं, अन्य नहीं। व्यवहार और वाणी की मधुरता से ही मनुष्य की शोभा है। व्यवहार और वाणी से ही मनुष्य की पहचान होती है।

एक बार एक राजा अपने मन्त्री और सेवक के साथ वन-विहार को गया। बड़ा हरा-भरा रमणीक वन था। सघन वृक्षों के बीच जलाशय थे। पशु निर्भय होकर विचरण कर रहे थे। राजा वहाँ की दृश्यावली को देखकर मुग्ध हो गया। तभी उसे थोड़ी दूर एक हिरण दिखाई दिया। राजा ने अपना घोड़ा उस ओर बढ़ा दिया। हिरण ने यह देखा तो उसने चौकड़ी भरी। उसका पीछा करने के लिए राजा ने अपने घोड़े को एड़ लगाई। दौड़ते-दौड़ते राजा बहुत दूर निकल गया। उसे थकान हो गई और वह उस स्थान की ओर बढ़ा जहाँ अपने मन्त्री और सेवक को छोड़ आया था।

उधर राजा बहुत दूर तक नहीं लौटे तो मन्त्री ने सेवक से कहा कि जाओ,

राजा को खोजकर लाओ। सेवक चल दिया। थोड़ी दूर पर एक अन्धे साधु अपनी कुटिया के बाहर बैठे थे। सेवक ने कहा ओवे अन्धे! इधर से कोई घुड़सवार तो नहीं गया? ''साधु बोले- मुझे पता नहीं।'' जब काफी देर तक सेवक नहीं लौटा तो मन्त्री को चिन्ता हुई और वह राजा की खोज में निकल पड़ा। संयोग से वह उसी साधु की कुटिया पर आया और उसने पूछा ओ साधु! क्या इधर से कोई गया है? साधु ने उत्तर दिया-हाँ मन्त्री जी, अभी यहाँ होकर एक नौकर गया है। मन्त्री आगे बढ़ गया।

कुछ ही क्षण बाद स्वयं राजा वहाँ आया। उसने कहा ओ साधु महाराज, इधर से कोई आदमी तो नहीं गये? साधु ने कहा राजन् पहले तो इधर से आपका नौकर गया, फिर आपका मन्त्री गया और अब आप पधारे हैं। इसके पश्चात् जब तीनों मिले तो उन्होंने उस साधु की चर्चा की। सबको आश्चर्य हुआ कि नेत्रहीन होते हुए भी साधु ने उन्हें कैसे पहचान लिया। वे साधु के पास गये और अपनी शंका उनके सम्मुख रखी।

साधु ने मुस्कुराकर कहा- ''आप सबको पहचानना बड़ा आसान था आपके नौकर ने कहा 'ओवे अन्धे', मन्त्री ने कहा 'ओ साधु' और आपने कहा 'ओ साधु महाराज'। राजन् आदमी की शक्ल सूरत से नहीं, बातचीत से उसके वास्तविक रूप का पता चलता है। आपके सम्बोन्धों से आपको पहचानने में कोई कठिनाई नहीं हुई।''

वचन की विश्वसनीयता होनी चाहिए। यदि व्यक्ति सुबह कुछ कहे शाम को उससे बदल जाये तो कोई उसका विश्वास नहीं करता। अपनी बात पर अडिग रहने वाले, अपने वचन को निभाने वाले व्यक्ति की विश्वसनीयता बढ़ती है। सर्वत्र प्रतिष्ठा रहती है। कुरल काव्य में इस सम्बन्ध में बहुत अच्छी बात कही गई है-

''लोक में यदि सत्यवादी के रूप में प्रतिष्ठा हो जाती है, तो यह बहुत बड़े पुण्य का प्रतीक है।''

ऐसे ही एक सेठ थे, सत्यनिष्ठ वचन के पक्के। एक बार व्यापार के कार्य से कहीं जा रहे थे। राह में सुनसान जंगल पड़ता था। डाकुओं ने उन्हें घेर

लिया। उनके पास जेवर नगदी जो कुछ था सब दे दिया। उतने से डाकू सन्तुष्ट नहीं हुए। डाकुओं ने कहा पाँच सौ स्वर्ण मुद्राएँ मिलेंगी तब तुम्हें छोड़ेंगे। सेठ जी ने कहा- ''ठीक है। मैं एक पत्र अपने पुत्र के नाम लिखकर देता हूँ। किसी को पत्र के साथ भेज दो मेरा पुत्र उसे पाँच सौ स्वर्ण मुद्राएँ दे देगा।'' पत्र में लिखा मुझे पाँच सौ स्वर्ण मुद्राएँ चाहिए। इस पत्र वादक को दे देना। पत्र लेकर डाकुओं का एक आदमी सेठ के पुत्र के पास गया। पुत्र ने पत्र प्ढ़ा और पत्र वादक को एक थैली में पाँच सौ स्वर्ण मुद्राएँ दे दीं डाकुओं ने थैली खोली, स्वर्ण मुद्राएँ देखकर बहुत प्रसन्न हो गए। परन्तु मुद्राओं को देखते ही सेठ जी के चेहरे का रंग उड़ गया। उन्होंने डाकुओं से क्षमा माँगते हुए कहा- मैं लज्जित हूँ। मेरे बेटे को शायद स्थिति का आभास हो गया है, इसलिए उसने ये स्वर्ण मुद्राएँ भेजी हैं। ये स्वर्ण मुद्राएँ नकली हैं। मैं आपको धोखा नहीं दे सकता। आज आप असली-नकली में भेद नहीं कर पाये हैं, किन्तु जब आपको यह पता चलेगा तब आपको मुझ पर से विश्वास उठ जायेगा। मेरे वचनों पर आपने विश्वास किया है, मैं उस विश्वास को खण्डित नहीं होने दूँगा। मैं दूसरा पत्र लिखता हूँ, असली मुद्राएँ मँगवा लें। सेठ की बात सुन डाकू सरदार उनके चरणों पर झुक गया। वह सेठ की सत्यनिष्ठा के आगे नतमस्तक हो गया। उससने कहा- आप जैसे सत्यनिष्ठ व्यक्ति को हम लूटने जा रहे थे, कितना बड़ा पाप हमसे हो रहा था। आपका चित्त कितना निर्मल है कि डाकुओं को भी धोखा नहीं देता। ऐसे व्यक्ति को हमने कष्ट दिया है। हमें क्षमा करें। आपके सत्यनिष्ठ आचरण से हमें भी जीवन की नई राह मिली है। यह है वाणी की सत्यनिष्ठा और वचनों की विश्वसनीयता।

सत्य व्यवहार - सत्य सारे जगत् का आधार है। जब तक सत्य का एक भी कण विद्यमान है तब तक धरती स्थिर रहेगी। सत्य के बल पर ही यह विश्व टिका हुआ है। संसार का सारा व्यवहार इसी के आधार पर चल रहा है। मनुष्य जाति जिस दिन सत्य का आलम्बन छोड़ देगी। उस दिन वह स्वयं महाविनाश के गर्त में गिर जाएगी। सत्य से ही जीवन और जगत् का उद्धार हो सकता है। सत्य के अभाव में मानव समाज दूषित हो सकता है। उसके नष्ट-भ्रष्ट होने की भी नौबत आ सकती है। प्रख्यात विचारक इमर्सन ने लिखा है-

''Every violation of truth is a strate at the health of human society.''

सत्य का प्रत्येक उल्लंघन मानव समाज के स्वास्थ्य में छुरी भौंकने जैसा है।

आज समूची मानव जाति सत्य से विमुख होती जा रही है। उसका व्यवहार असत्यमय होता जा रहा है। संस्कृति के विघटन के इस अभिशप्त दौर में मनुष्य का सत्य से पराङ्मुख होना अत्यधिक त्रासदायी है। आज आवश्यकता है सत्य के प्रति निष्ठा को जगाने की। जीवन व्यवहार में सत्य को प्रतिष्ठित करने की।

सत्य मूलक जीवन व्यवहार का मतलब है, ईमानदारी और सदाचरण पूर्वक जीना। ईमानदारी और सच्चाई एक दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते। जहाँ सच्चाई नहीं होती वहाँ ईमानदारी और प्रमाणिकता भी नहीं होती। सत्य निष्ठा के अभाव में आज लोग असत्य का आचरण कर रहे हैं। असत्य शब्द बहुत व्यापक हैं। बेईमानी, अप्रमाणिकता और अविश्वसनीयता असत्य की ही पर्यायें हैं। आज मनुष्य के सारे आदर्श छूटते जा रहे हैं। नैतिकता और सदाचार के सारे प्रतिमान टूटते जा रहे हैं। मनुष्य की प्रमाणिकता और विश्वसनीयता खण्डित होती जा रही है, क्योंकि वह सत्य से विमुख हो गया है। सत्य ही विश्वास का आधार है। कहा है–

सच्चं जसस्स मूलं, सच्चं विस्सास कारणं परमं।
सच्चं सग्गद्वारं सच्चं सिद्धीइ सोपाणं।।

अर्थात् ''सत्य यश का मूल है, विश्वास का परम कारण है, सत्य ही स्वर्ग का द्वार है और सत्य ही सिद्धि का सोपान है।''

सत्य का जीवन के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि नदी के साथ उसके जल का। नदी की शोभा और सार्थकता उसमें प्रवाहित हो रहे जल से होती हे। जल सूख जाने पर लम्बी–चौड़ी पाटों वाली नदियाँ भी निरस और अशोभनीय लगती है। वे ही नदियाँ जब जल से आप्लाविक रहती हैं तो दर्शनीय और उपयोगी

हो जाती हैं। इसी तरह सत्याचरण रहित व्यक्ति पतित होता है और सत्याचरणी व्यक्ति प्रतिष्ठित हो जाता है। सत्याचरण ही मनुष्य की उन्नति का आधार है।

आज का मनुष्य सुविधावादी हो गया है। वह क्षणिक सुविधा और धन की लिप्सा में सत्य आचरण से विमुख हो जाता है। उसका जीवन अनैतिक होता जा रहा है। अनैतिकता के बढ़ते प्रभाव के कारण आज मनुष्य की मान्यताएँ बदल गई हैं। सामाजिक मूल्य बदल गये हैं। भ्रष्टाचार अब शिष्टाचार बनता जा रहा है। जिस रिश्वत और घूसखोरी को पाप समझा जाता था। वह अब सुविधा शुल्क कहलाने लगी है। कितनी बड़ी नादानी है। सन्त कहते हैं अनैतिकता और असत्य से बचो। अपने कर्मक्षेत्र में सच्चाई से काम करो। वही तुम्हारी पूजा है। मन्दिर में पूजा करना तो द्रव्य पूजा है। सच्ची भाव पूजा तो सत्य आचरण है। आजकल बहुत से लोग ये कहते हैं कि आज ''सत्य व्यवहार में नहीं आ सकता।'' यह मन की दुर्बलता का परिणाम है। सत्य का आराधक देश, काल और परिस्थितियों का मुहताज नहीं होता। सत्य के पालन के लिए परिस्थितियाँ बाधक नहीं होती। मनुष्य के मन में निष्ठा हो तो संसार का कोई भी काम सम्भव नहीं है।

दीप निष्ठा का जले तो आँधियाँ बाधक न होगी।
आदमी में लग्न हो तो मजबूरियाँ बाधक न होगी।
हारते हैं वे जिन्हें विश्वास अपने पर नहीं।
बढ़ चले सत् पथ पर पथिक तो दूरियाँ बाधक न होगी।

आज भी धरती ऐसे नर रत्नों से शोभायमान है जिनके प्रत्येक विचार और व्यवहार में सत्य प्रतिबिम्बित होता है।

पण्डित गोपालदास बरैया जैनदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् हुए हैं। वे अणुव्रती श्रावक थे। नैतिकता और सदाचरण उनके जीवन का मूलमन्त्र था। एक बार पण्डितजी को मुम्बई जाना था। अपने साथ अपने पुत्र को लेकर वे यात्रार्थ गये।

उम्र छोटी थी इस ख्याल से उन्होंने अपने बच्चे का टिकट नहीं लिया था। मुम्बई पहुँचने पर उनका ध्यान गया। हिसाब लगाने पर बेटे की उम्र तीन वर्ष छह दिन की थी। पण्डितजी का इस बात का बड़ा अफसोस हुआ कि उन्हें यह ध्यान क्यों नहीं आया कि बेटे की उम्र छह दिन अधिक है। इसका टिकट लेना

चाहिए था। उन्होंने आधी टिकट का पैसा घर बैठे ही मनीआर्डर से रेल्वे मैनेजर के पास भेजा और लिखा मुझसे भूल हो गई, कृपया क्षमा करें।

उन दिनों अंग्रेजी राज्य था। अंग्रेज नियम के पक्के होते हैं। मैनेजर अंग्रेज था। इस घटना का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह सोचने लगा कि हिन्दुस्तानी व्यक्ति भी क्या इतना प्रमाणिक हो सकता है? उसने पण्डितजी से प्रत्यक्ष वार्ता की और उनकी ईमानदारी और सत्यप्रियता से प्रभावित होकर नाम पता के साथ एक सूचना प्रसारित कर दी- ''पण्डित गोपालदास बरैया सत्यनिष्ठ, ईमानदार व्यक्ति हैं। यात्रा में उनकी टिकट और लगेज पर कोई जाँच न की जाए। यदि कोई कमी होगी तो वे स्वयं पूरी कर देगें।'' धन्य हैं ऐसे लोग।

गाँधीजी बैरिस्टर थे। वकालत जैसे व्यवसाय, जिसमें कि प्रायः कहा जाता है कि वकील सत्य का प्रहरी है। वह न्याय के लिए लड़ता है। न्याय दिलाने के लिए असत्य का आश्रय अपेक्षित नहीं। अफ्रीका में गाँधीजी के पास एक मुवक्किल का कर चोरी अपराध सिद्ध हो रहा था। गाँधीजी को पता चला कि मुवक्किल ने वास्तव में कर चोरी की है और उसे वह छिपाकर निर्दोष सिद्ध होना चाहता है। वे दूसरे ही दिन अपने मुवक्किल के पास पहुँचे और कहने लगे- ''मैं आपके मुकदमें की पैरवी नहीं कर सकता, मुझे मामला झूठा लगता है। आपकी 'कर' चोरी प्रायः सिद्ध हो चुकी है। आपको बहुत ही भयंकर सजा मिलने की सम्भावना है। अतः इससे बचने का एक ही उपाय है- सत्य की शरण। आप अपने 'कर' चोरी का अपराध स्वीकार कर लें। मेरा विश्वास है कि इससे आपको सजा तो होगी, पर बहुत मामूली। बिना सजा ही आपका काम हो जाये। घबराये हुए मुवक्किल ने गाँधी जी की सलाह मानकर सत्य की शरण स्वीकार कर ली। गाँधी ने अदालत में अपने मुवक्किल की ओर से कहा- मेरे मुवक्किल ने कर चोरी की है, इसके लिए उसके मन में पश्चाताप है और वह अपनी गलती स्वीकार करता है। गाँधी जी के इस सत्य बयान पर सभी वकील चकितरह गये कि यह अपने ही क्लाईंट को फँसा रहे हैं।'' परन्तु मजिस्ट्रेट पर गाँधी जी की सत्यवादिता का अद्‌भुत प्रभाव पड़ा। वह उनसे प्रभावित होकर जितने की 'कर' चोरी थी उससे दुगुने अर्थदण्ड की सजा देकर मुक्त करा दिया। मुवक्किल ने यह सजा स्वीकार कर ली और अर्थदण्ड भर देने के बाद एक बड़े कागज में 'कर'

चोरी का ब्यौरा लिखा तथा नीचे सूचना लिखी कि भविष्य में मेरी फर्म में कोई किसी प्रकार की कर चोरी न करें। उस कागज को शीशे में मढ़वाकर उन्होंने अपनी फर्म में टँगवा दिया।

सत्यनिष्ठा व्यक्ति का मूल आराध्य सत्य ही होता है। वह सत्य की आराधना के लिए बड़े से बड़े त्याग के लिए तत्पर रहता है। भय और प्रलोभन उसके मार्ग में बाधक नहीं बनते। वह विपरीतताओं और विषमताओं को अपने लिए एक कसौटी मानकर स्वीकार करता है। सबसे मजे की बात तो यह है कि वह उसमें खरा उतरता है। जैसे सोने के तपाने पर वह और अधिक निखर उठता है वैसे ही ऐसी परिस्थितियों में सत्यनिष्ठ की निष्ठा और प्रगाढ़ हो जाती है। सत्य का आराधक सत्य रूपय परमात्मा के अलावा जगत् के सारे पदार्थों को जीर्ण तृण के समान मानता है। तुलसीदास जी ने ठीक लिखा है-

तनुतिय तनय, धाम धन धरणी,
सत्यवंत कहें, तृण सम वरणी।

इसी सन्दर्भ में एक बड़ा प्रेरक प्रसंग है- एक व्यापारी किसी कार्य से दिल्ली गया। उसे बहुत से ऑफीसरों, दुकानदारों से अपने व्यापार के सम्बन्ध में मिलना था। उसने एक टैक्सी की, उसी से सभी जगह गया। काम पूरा हुआ, टैक्सी का किराया दिया और एक होटल में चला गया। टैक्सी वाला अपने ठिकाने पर पहुँचा। दिनभर काफी चलना हुआ था, सोचा थोड़ा आराम करें। गाड़ी खड़ी की तो उसे पिछली सीट पर एक मनी बैग दिखाई दिया। वह चिन्तित हो गया। सोचने लगा जरूर यह उस सेठ का है, जिन्हें वह छोड़कर आया है। शायद बैग में कहीं नाम पता हो। उसने बैग खोला। उसमें नाम पता तो मिला नहीं, परन्तु बैग में बहुत सारे रुपये थे। इतने रुपये देख वह घबरा गया। उसे आत्मग्लानि होने लगी- सेठजी का इतना सारा रुपया मेरी गाड़ी में छूट गया वो कितना परेशान हो रहे होंगे। मेरे बारे में न जाने क्या सोच रहे होंगे। क्या करूँ? वह सीधा उस होटल में गया जहाँ अन्त में उसने सेठ को छोड़ा था। वहाँ सेठ जी को होटल में ध्यान आया कि रुपयों वाला बैग तो टैक्सी में ही रह गया, वे एकदम निराश-हताश हो गए। अब क्या करूँ? टैक्सी का नम्बर भी पता नहीं है, टैक्सी कैसे ढूँढे?

सेठ जी टैक्सी की तलाश में सड़कों पर टैक्सी देख रहे थे। इधर ड्राईवर होटल के चक्कर लगा रहा था। कितनी विचित्र स्थिति थी एक रुपया लेने दौड़ रहा है और दूसरा रुपया देने। काफी देर बाद सेठ जी निराश होकर होटल में लौटे, टैक्सी वाले ने उन्हें देखा। वह प्रसन्न हुआ कि चलो सेठ जी मिल गये। वह सेठ जी के पीछे उनके कमरे तक गया और कहा- ''वाह! सेठ जी खूब परेशान कर दिया। लो सम्हालो अपनी अमानत।'' सेठ जी की आँखे चमक उठीं। विश्वास ही नहीं हो रहा था, ये क्या चमत्कार हो गया। लपककर उस बैग को ले लिया। रुपये गिने, पूरे थे। सेठ जी का मन गद्‌गद् हो गया। उन्होंने उसे पाँच हजार रुपये देना चाहे। ड्राईवर सिक्ख था। बोला- ''देखो, मैं सिक्ख हूँ। पराया धन, पराई कमाई नहीं लेता। आप पाँच हजार की बात कर रहे हैं, मैं आपके पाँच पैसे भी नहीं लूँगा। रुपयों रुपयों का लालच होता तो यहाँ आता ही क्यों? पूरा ही हजम कर लेता।'' सेठ ने फिर आग्रह किया अरे भाई! मैं तो पुरस्कार स्वरूप दे रहा हूँ, ले लो।'' उसने कहा- मैं मुफ्त में कुछ नहीं लेता। आपने टैक्सी का किराया दे दिया है। इसके अलावा कुछ भी लेना मेरे लिए हराम है। वह चला गया। सेठ उसे आश्चर्य और कृतज्ञता भरी नजरों से देखता रहा। यह है व्यवहार में सत्य का आचरण।

सत्य की महिमा को जानें। सत्य ही समस्त सिद्धियों, उपलब्धियों का आधार है। जितने भी नियम, व्रत, तप आदि धार्मिक क्रिया, अनुष्ठान हैं, वे सत्य के साथ ही प्रभावशाली होते हैं, सत्य से हीन समस्त साधना, साधना नहीं आडम्बर है।

जो सत्य को छोड़कर असत्य का आश्रय लेते हैं वे अपने जीवन के साथ बहुत बड़ा खिलवाड़ करते हैं। गुरुनानक कहते हैं-

कहे नानक जिन सच तजिया,
कूड़े लागे उनी जनम हारिया।

जिन्होंने सत्य को त्यागकर झूठ की शरण ली है, उन्होंने अपना जन्म जुएँ में हरा दिया है।

सत्य ही साधक के जीवन की शोभा है, जैसे आँख के अभाव में शरीर की सारी सुन्दरता फीकी पड़ जाती है, वैसे ही सत्य के अभाव में अन्य सभी व्रतों

नियमों, पूजाओं, मतों और धार्मिक क्रियाएँ शोभाहीन होती हैं, सत्य ही सबसे बड़ा धर्म है। तुलसीदास कहते हैं-

धरम न दूसर सत्य समाना, आगम निगम पुराण बखाना।
सत्य मूल सब सुकृत सुहाई, वेद पुराण विदित मुनिभाई।।

लोगों की धारणा बनी हुई है कि वे यदि सत्य का पालन करेंगे तो उनका सारा काम बिगड़ जाएगा। व्यापार में, नौकरी में, समाज में सभी जगह बहुत कठिनाई आ जाएगी। यह मन की दुर्बलता है। झूठा व्यक्ति ही सदैव भयभीत रहता है- न मालूम कब उसके झूठ का भेद खुल जाए। सत्य के बिना अभय नहीं होता। सत्यनिष्ठ निर्भीक और निर्भय होता है।

राजा हरिशचन्द्र सत्य की प्रतिमूर्ति थे। उनका नाम ही सत्यवादी राजा हरिशचन्द्र हो गया था। महर्षि विश्वामित्र ने उनकी सत्यनिष्ठा की कठोर परीक्षा ली। राजा को राजपाट-छोड़ना पड़ा। पत्नि व पुत्र और स्वयं को बेचकर दासत्व की पीड़ा सहनी पड़ी। चाण्डाल का कार्य करना पड़ा। इतनी सब विपदाओं, कष्टों के आने पर भी वे सत्य पर अडिग रहे। इतने संकटों के बाद भी सत्य से विचलित नहीं हुए।

विश्वामित्र ने भी स्वीकार किया- राजा हरिशचन्द्र की सत्यनिष्ठा अगाध है। इसलिए कहा है-

''सत्यमेव जयते नानृतं''

सत्य की सदैव विजय होती है। जीवन का शाश्वत सुख प्राप्त करना है, तो मन, वचन, काय से सत्य आचरण को अपने जीवन में प्रतिष्ठित करो।

करें मन का दिशा दर्शन

नदी की सागर तक की यात्रा में उसके तटबंधो की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अपने दोनों कूलों/किनारों के मध्य एक निश्चित दिशा और नियन्त्रित वेग से प्रवाहित होती हुई नदी असीम सागर में समा जाती है। अपने किनारों का उल्लंघन करके बहने वाली दिशा विहीन नदी किसी मरुस्थल में भटक कर खो जाती है। नदी सागर में समाकर भी मिमटती है और मरुस्थल में खोकर भी मिटती है। नदी का मरुस्थल में खोना अपने अस्तित्व को मिटाना है और सागर में समाहित हो जाना अपने क्षुद्र अस्तित्व को विराट् स्वरूप प्रदान करना है। नदी को सागर तक की यात्रा के लिए किनारों का बन्धन स्वीकारना अनिवार्य है। इसी बन्धन का नाम है- संयम। जीवन की धारा को एक निश्चित दिशा और नियन्त्रित वेग में प्रवाहित करने का नाम है- संयम! अपने मन और इन्द्रियों को नियन्त्रित रखकर जीवन को आगे बढ़ाने का नाम है- संयम! संयमपूर्ण जीवन का मतलब है- स्वस्थ, व्यवस्थित और सन्तुलित जीवनशैली।

संयम के अभाव में जीवन का कोई उपयोग नहीं। जीवन की सार्थकता संयम में है। टिमटिमाते दीपक के प्रकाश में हम कुछ पढ़ नहीं सकते। उसका प्रकाश सघन नहीं होता। कभी-कभी हमारी श्वासों से भी उसके बुझने का भय रहता है। लेकिन उसी दीपक पर यदि कोई चिमनी रख दी जाये तो उसकी आभा निखर उठती है। उसकी सघन आभा में पर्याप्त प्रकाश पा सकते हैं। चिमनी क्या आई, एक सुरक्षा कवच आ गया। जीवन भी एक टिमटिमाते दीपक की तरह है जो कभी भी बुझ सकता है। लेकिन संयम की चिमनी से सुरक्षित कर हम उसकी ज्योति शाश्वत बना सकते हैं, उसकी प्रखर आभा में अपनी आत्मा को आलोकित कर सकते हैं।

संयम की आराधना ही जीवन की श्रेष्ठ साधना है। अपने मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना संयम है। अध्यात्म की साधना के लिए संयम अनिवार्य है। जितनी भी साधना पद्धतियाँ हैं, सभी में संयम की बात की जाती है। अपने भटकते हुए मन और विपथगामी इन्द्रियों को रोक बिना जीवन का उद्धार सम्भव नहीं। इसलिए गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है-

''असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति में वच''

असंयत आत्मा के लिए योग की उपलब्धि असम्भव है। ''मन और इन्द्रियाँ मनुष्य की दो मौलिक शक्तियाँ हैं। पूरे प्राणी जगत् में जितना सक्षम मन और जितनी समर्थ इन्द्रियाँ मनुष्य को प्राप्त हैं, उतनी संसार के किसी भी प्राणी को नहीं। इनका सदुपयोग करके हम जीवन का परम विकास कर सकते हैं। ये हमें एक सेवक की भाँति प्राप्त हुई हैं, पर हम उनके दास बने हुए हैं। परिणामतः मन और इन्द्रियाँ दोनो हमारे नियन्त्रण में नहीं हैं, अपितु हम खुद उनके नियंत्रण में हैं। आज हर प्राणी इन्द्रिय विषयों के आधीन होकर उलझा हुआ है। आज मनुष्य का जीवन पुरी तरह पराधीन हो गया है। यह पराधीनता ही दुख का मूल है। क्योंकि इन्द्रियाँ चेतना एक मृग मरीचिका है जिसमें मनुष्य को भटकन, प्यास और अतृप्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता।''

इन्द्रिय चेतना हमारी आत्मा को भटकाती है। मनुष्य के मन में इन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति होती है, वह उनसे आकर्षित होकर उनका उपभोग करता है। उसके उपरान्त भी उसे तृप्ति नहीं मिलती, क्योंकि हमारे मन को कभी भी किसी एक इन्द्रिय के विषय में सुख नहीं मिलता। हर क्षण नये-नये विषय चाहता है। मन की प्यास अनन्त/अबुझ है। उसमें आतुरता बनी रहती है। मन हमारी इन्द्रिय चेतना को विषयों की ओर दौड़ाता है और हमारी आत्मा को अशान्त कर देता है। सन्त कहते हैं- इन्द्रिय विषयों से आज तक किसी को तृप्ति हुई ही नहीं। कोई भी इन्द्रिय विषय मनुष्य को स्थाई रूप से सुख नहीं देते। प्रारम्भ में वे प्रिय लगते हैं लेकिन कुछ ही क्षणों बाद में वे अप्रिय/अरुचिकर लगने लगते हैं। उदाहरण के लिए जिह्वा इन्द्रिय को ले लीजिए। स्वादिष्ट पदार्थ न मिलने तक, मिलने की प्रतीक्षा, उत्सुकता और ललक रहती है। उस समय उसे पाने के लिए मन अशान्त रहता है। जिस समय वे स्वादिष्ट पदार्थ खाये जाते हैं उतनी देर तक वे रुचिकर और सन्तोषप्रद लगते हैं। कभी-कभी तो खाने के क्षण भी समान सुखदायी नहीं होते । पेट जब खाली होता है, तब लिप्सा तीव्र होती है, किन्तु आहार प्रारम्भ करते समय सरस स्वादिष्ट लगने वाला भोजन का आकर्षण पेट भरने के साथ घटता जाता है। पेट भर जाने के बाद अरुचि हो जाती है। परोसने वाले के आग्रह मनुहार को अस्वीकार कर परोसी हुई वस्तुएँ उपेक्षा पूर्वक

थाली में छोड़कर चले जाते हैं। आतुरता में यदि खा लिया जाए तो पेट गड़बड़ाने लगता है। न मिलने से पूर्व आतुरता और मिलने के बाद अरुचि, अतृप्ति या असन्तोष। यही प्रतिक्रिया विषय सुखों के सम्बन्ध में होती है।

जिह्वा की तरह अन्य इन्द्रियों का भी यही हाल है, आँखों को सुन्दर दिखने वाले नयनाभिराम दृश्य, नाटक, अभिनय, चित्र भी थोड़ी देर देख लेने के बाद अरुचिकर लगने लगते हैं। जल्दी ही एक दृश्य छोड़कर दूसरे दृश्य को देखने के लिए मन आतुर हो उठता है। जिन्हें देखने की तीव्र लालसा हो, वे भी कुछ क्षण बाद अरुचिकर हो जाते हैं। यही बात कान के सम्बन्ध में है। एक बार सुना हुआ गाना दूसरी बार उतना प्रिय नहीं लगता बार-बार सुनने पर वही अरुचिकर हो जाता है। यही हाल स्पर्शेन्द्रिय सम्बन्धी सुख का है। इन्द्रिय विषयों जन्य सुख प्रारम्भ में आतुरता और अन्त में उकताहट भरे होते हैं। कोईभी इन्द्रिय विषय मन को स्थाई सुख प्रदान नहीं कर पाते। इसीलिए आचार्य पूज्यपाद ने कहा है-

आरम्भे तापकान् प्राप्तावतृप्ति प्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधी।।

आरम्भ में सन्ताप के कारण और प्राप्त होने पर अतृप्ति प्रदान करने वाले तथा अन्त में बड़ी कठिनाई से छूटने वाले विषय-भोगों को कौन बुद्धिमान सेवन करेगा? अर्थात् कोई नहीं। गीताकार ने भी यही कहा है-

ये ही संस्पर्शजा भोगा दुःख योनय एव ते।
आद्यन्तवतः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः।।

इन्द्रिय विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग विषयी-पुरुष को भले ही सुखरूप प्रतीत हों, पर यर्थाथतः वे दुःख के जनक हैं। आदि अन्त वाले, नाशवान्-अनित्य है। हे अर्जुन! बुद्धिमान दूरदर्शी मनुष्य इसमें रमण नहीं करता, उनमें आसक्त नहीं होता ।

इन्द्रियाधीनता का मूल कारण है-आसक्ति। मन में इन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति होती है, मन मुग्ध हो जाता है। इन्द्रिय विषयों में आसक्त मनुष्य की सारी चेष्टाएँ, कुत्सित, घृणित, अदूरदर्शी एवं क्षणिक सुखभोग तक सीमित रहती हैं। अच्छे-अच्छे ज्ञानीजन भी इन्द्रियाधीनता के कारण अपने लक्ष्य से विमुख हो पथ

भ्रष्ट हो जाते हो जाते हैं। भागवत् का एक बड़ा प्रेरक प्रसंग है-

महर्षि वेदव्यासजी अध्ययन कर रहे थे। अध्ययन करते हुए उन्हें एक सूत्र मिला- **''बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वान्समपि कर्षतिः''**

''इन्द्रियों का समूह बड़ा बलवान् है, जो कि विद्वानों को भी कष्ट उेता है।'' वेदव्यासजी को यह बात नहीं जँची। उन्हें ऐसा लगा कि सूत्र में कहीं कोई भूल रह गई है, क्योंकि विद्वान, विद्वान होता है, वह अच्छे-बुरे का विवेक रखता है, हित-अहित का उसे भान होता है। वह इन्द्रियों के अधीन कैसे होगा? यह सोचकर उन्होनें उस सूत्र को संशोधित करके इस प्रकार लिख दिया।

''बलवान् इन्द्रियग्रामोऽविद्वान्समपि कर्षति''

अर्थात् इन्द्रियों का समूह बड़ा बलवान् है, यह अज्ञानियों को कष्ट देता है।

अगले दिन व्यासजी प्रातःकाल शौच के लिए गये। शौचक्रिया से जब वे लौट रहे थे तभी उन्हें रूपवती षोडशी कन्या सामने से आती हुई दिखी। व्यासजी की निगाह उस पर पड़ी, मन आकर्षित हुआ। उस सुन्दरी ने अपने स्थान से ही आवाज लगाते हुए कहा- ''कोई बात नहीं, मैं एक किनारे हो जाऊँगा, तुम निकल जाना।'' और वेदव्यासजी आगे बढ़ने लगे। देखा, कि वह सुन्दरी पीछे की ओर मुड़ने लगी। सुन्दरी को पीछे की ओर मुड़ते देख व्यासजी की चाल तेज हो गई। तभी व्यासजी के कानों में एक ध्वनि टकराई- **''बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वान्समपि कर्षति।''**

और वह सुन्दरी आकाश में विलीन हो गई। वेदव्यासजी चकित हो गये। तभी उन्हें लगा कि शास्त्रों में जो लिखा है इन्द्रियों का समूह बड़ा बलवान् है, मुझ जैसे विद्वान को भी प्रभावित कर लेता है- वह ठीक है। मैंने जो संशोधन किया था वह गलत है। उन्हें अपनी भूल का अहसास हुआ और सूत्र को पुनः ज्यों का त्यों लिखते हुए उन्होंने लिखा-

''बलवान् इन्द्रियग्रामो विद्वान्समपि कर्षति''

ऐसा कहते हैं कि वह सुन्दरी और कोई नहीं, साक्षात् सरस्वती थी जो, व्यासजी को अगाह करने आई थी।

इन्द्रियाधीनता मनुष्य के विवेक को कुण्ठित कर देती है। इन्द्रियाधीनता से

बुद्धि बिगड़ती है। अतः पुरुषार्थ पूर्वक अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों को संयमित करने का प्रयत्न करना चाहिए। भगवान् महावीर ने जीवन को रथ और इन्द्रियों को घोड़े का प्रतीक बताते हुए कहा है-

एदे इंदियतुरया पयडि दोसेन चोदिता सन्ता।
उम्मग्गं णेंत्ति रहं करेहि मण पग्गहं बलियं।।

जीवन एक रथ है, जिसमें इन्द्रियरूपी घोड़े जुते हुए हैं। इन्द्रियरूपी घोड़े प्रकृति दोष (राग और द्वेष) से प्रेरित होकर जीवनरथ को उन्मार्ग की ओर ले जाते हैं। अतः मन की लगाम को मजबूत करो।

मन के नियन्त्रित रहने पर इन्द्रियाँ भी शान्त और नियन्त्रित रहती हैं। अनियन्त्रित मन इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाता है। बहिर्मुखी इन्द्रियाँ विषयों की ओर भागती हैं। सन्त कहते हैं- इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को रोककर उन्हें अन्तर्मुखी बनाने का प्रयत्न करें। तभी सही अर्थों में इन्द्रियजय हो सकती है। कहा है-

विषेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्व-स्व गोलके।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्त्तितः।।

इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाकर अपने-अपने गोलक में स्थापित कर देना ही वास्तविक इन्द्रिय विजय है।

इन्द्रिय विजय का मतलब इन्द्रियों को नष्ट करना नहीं है। इन्द्रियों के साथ तोड़-फोड़ करना कथमपि हितकर नहीं है। इन्द्रिय विजय का सच्चा अर्थ विषयों की ओर भटक रही बहिर्मुखी इन्द्रियों का उपयोग न करना इन्द्रियजय नहीं है। न ही शरीरधारियों के लिए यह सम्भव है। कुछ हठयोगियों का यह मत है कि इन्द्रियों से काम मत लो, उनके द्वार बन्द कर दो, विकल्प अपने-आप रुक जायेंगे। आँखों से देखो मत, मूँद लो उन्हें,, कान से सुना मत, उनमें डाट लगा लो। नासिका से सूँघो मत, नथुने बन्द कर लो। जिह्वा से खाओ ही मत। क्या ये सारी बातें सम्भव हैं? क्या दिन-रात आँखे मूँदकर रहा जा सकता है? इन्द्रियाँ मिली हैं, उनसे काम लिए बिना क्या अच्छा परिणाम आएगा? जैनदर्शन कहता है, यह निरन्तर सम्भव नहीं है। इन्द्रियों को अपना-अपना काम करने दो। आँख, कान,

नाक, जीभ, स्पर्शेन्द्रिय आदि से काम लो, किन्तु उनके साथ मन मत जोड़ो।

इन्द्रियजन का एक सहज और सरल उपाय यह है कि इन्द्रियों के प्रयोग के साथ मन का स्पर्श न होने देना। मन को इन्द्रिय विषयों से बिल्कुल अलिप्त और तटस्थ रखें। चीन के महान् दार्शनिक कन्फ्युशियस से येनहुई ने पूछा– ''मैं मन पर संयम कैसे कर सकता हूँ?''

कन्फ्यूशियस बोला– ''मैं तुम्हें एक सीधा सा उपाय बता देता हूँ। अच्छा यह बताओ कि तुम कानों से सुनते हो, आँखों से देखते हो, जीभ से चखते हो, नाक से सूँघते हो?'' ऐन ने कहा– 'हाँ'। कन्फ्यूशियस बोला– ''मैं यह नहीं मान सकता कि तुम कानों से सुनते हो, आँखो से देखते हो, जीभ से चखते हो और नाक से सूँघते हो। तुम मन से सुनते, देखते, चखना, छूना और सूँघना बन्द कर दो।'' केवल उसी इन्द्रिय से उसके योग्य विषय का ग्रहण करो, मन का स्पर्श उन्हें न होने दो।

प्रायः लोग मात्र सम्बन्धित इन्द्रियों से ही विषय ग्रहण नहीं करते। किन्तु मन से ही सुनने, देखने, चखने, सूँघने आदि का काम करते हैं। मन में इन्द्रिय विषयों को ग्रहण करने के जो संस्कार जमें हुए हैं वे सामने आ जाते हैं। इन्द्रिय विषय कभी राग-द्वेष नहीं कराते, उनके साथ मन के जुड़ जाने से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। इसलिए सन्त कहते हैं कि इन्द्रिय विषयों से मन को मत जुड़ने दो।

मैं एक उदाहरण से समझाता हूँ। माँ ने बेटे से कहा– ''समझता ही नहीं निरा मूर्ख है।'' इसके बेटे ने सुना। इसी प्रकार उस लड़के के किसी विरोधी शत्रु ने कहा– ''समझते ही नहीं बड़े मूर्ख आदमी हो।'' इसे भी उसने सुना। शब्दावलि और श्रवण में कोई अन्तर नहीं है। मगर दोनों एक साथ हुई बात के साथ जब मन जुड़ेगा, दोनों के अर्थ अलग-अलग आयेंगे। माँ के द्वारा कहे गये शब्द प्रिय लगेंगे, लेकिन शत्रु के मुख से निकले उन्हीं शब्दों के श्रवण मात्र से हृदय में आग लग जाएगी। शब्दों को केवल कान से सुना जाता तो कोई अन्तर नहीं आता, अन्तर केवल इसलिए आ गया कि सुनने वालों ने मन से सुना।

निष्कर्ष यह है कि इन्द्रियों से ग्रहण किया गया कोई भी विषय अपने आप

में प्रिय या अप्रिय नहीं होता। प्रियता और अप्रियता का भाव मन के जुड़ने पर होता है। इन्द्रिय विषयों से जुड़ा मन प्रिय और अप्रिय की कल्पना करके प्रिय के साथ राग और अप्रिय के साथ द्वेष करता है। मन ही राग द्वेष का जनक है। अतः मन का निग्रह करने का प्रयत्न करें। इन्द्रियों के निग्रह का मूल उद्देश्य मन का निग्रह है। मन इन्द्रियों का स्वामी है। मन को वश में कर लेने पर इन्द्रियाँ स्वयमेव यश में आ जाती हैं। मनोविजय ही आत्म विजय है। कहा भी है-

मनोयस्य वशं तस्य भवेत् सर्वजगत् वशे।
मनसस्तु वशं योऽस्ति स सर्व जगतो वशे।।

जिसका मन अपने वश में है वह सारे जगत् को वश में कर सकता है। तथा जो मन के वश में है, वह सारे जगत् का दास है। मन की गुलामी जगत् की गुलामी है।

यह बहुत सम्भव है कि मनुष्य सारे जगत् को जीत ले, पर जब तक वह अपने आप को नहीं जीत लेता तब तक सही अर्थों में उसकी जीत नहीं है। वह अन्दर से हारा हुआ है। उसकी बाहरी जीत दूसरों को धोखा दे सकती है, पर अपने आप को नहीं। अपने आपको जीतना ही सच्ची विजय है। उसी विजय का आनन्द ही सच्चा आनन्द है। अपने आप पर विजय पाये बिना केवल बाह्य विजय तो पराजय में बदल जाती है। इसलिए कहा है- **जितं जगत् केन? मनो हि येन। ''मनोविजेता जगतो विजेता।''**

जिसने अपने मन को जीत लिया है वही जगत् को जीत सकता है। मनोविजय ही जगत् की विजय है। मनोविजय के अभाव में मनुष्य चाहे जितना भी साधन सम्पन्न क्यों न हो, वह सक्षम नहीं हो सकता। वर्तमान में मानव की शक्ति विस्तीर्ण होती जा रही है, लेकिन वह स्वयं शक्तिहीन होता जा रहा है। कितना विरोधाभास है यह! आज मनुष्य की बाह्य शक्ति तो बढ़ी है, पर आन्तरिक रूप से वह शक्ति हीन होते जा रहा है। भौतिक पदार्थों में मनुष्य की गति बढ़ी है, लेकिन आध्यात्मिक क्षेत्र में वह शक्ति क्षीण गतिहीन सा हो रहा है। मनुष्य की इस आन्तरिक शक्तिहीनता का मूल कारण है- विषयाधीनता। वह पंचेन्द्रिय और मन के विषयों के अधिन होकर पूरी तरह पथ भ्रष्ट हो रहा है। इन्द्रियाधीनता मनुष्य विवेक को कुण्ठित कर देती है। मन और इन्द्रियों के अधीन रहने वाले

मनुष्य की सारी सृजनात्मक शक्ति नष्ट हो जाती है। उसके संकल्प शिथिल पड़ जाते हैं। परिमाणतः वह दिग्मूढ़ बनकर अपना सर्वस्व खो देता है। वस्तुतः बाह्य इन्द्रिय विषयों की मुग्धता बहुत बड़ी आत्म वंचना है। कुरल काव्य में लिखा है–

संयमोऽपि सदा रक्ष्यो निजकोष समो बुधैः।
ततोऽधिकं यतो नास्ति निधानं जीवने परम्।।

''आत्मसंयम की रक्षा अपने खजाने के समान ही करो, क्योंकि उससे बढ़कर जीवन में कोई निधि नहीं है।''

अपनी आत्मनिधि को भूलकर जगत् की निधि पाना कौन सी बुद्धिमानी है? इसे कौन पसन्द करेगा। यह तो हीरा खोकर कंकर पत्थर खरीदने जैसा है। अपने आप को खोना सर्वस्व को खोना है। 'स्व' केन्द्र में न हो तो संसार की समस्त वस्तुएँ उपलब्ध हो सकती हैं और इस अकेले के खो जाने से जगत् की समस्त वस्तुएँ खो जाती हैं। 'स्व' एक है, दुनियाँ के सारे पदार्थ शून्यवत् हैं। शून्य चाहें जितने हों, कोरे शून्यों की किमत तब तक नहीं होती, जब तक कि एक का अंक उसके पूर्व न लगे। वास्तव में 'स्व' ही एक मात्र सम्पत्ति है, वह हमारी आत्मिक शक्ति है, उस शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए मनोविजय अनिवार्य है।

मन मनुष्य के जीवन की धुरी है। हमारी समस्त वृत्तियों और प्रवृत्तियों का उत्प्रेरक मन ही है। यह क्रियाशील और विकासशील है। इसमें जीवन बदलने की शक्ति है। मन में अपार क्षमता है। यह हमारे जीवन का मारक और तारक है। अन्तर्मुखी मन हमारा तारक है और बहिर्मुखी मन आत्मा को डुबा देता है। इसलिए कहा है–

बन्धाय विषयासक्तं मुक्तये निर्विषयं मनः।
मनः एव मनुष्याणाम् कारणम् बन्ध मोक्षयोः।।

वस्तुतः मन ही मनुष्य के जीवन में बन्धन और मुक्ति का कारण है। विषयासक्त मन से बन्ध होता है तथा विषय रहित मन मुक्ति का साधन है। मन जब बर्हिमुखी होता है, वह इन्द्रिय विषयों की ओर भागता है। इन्द्रिय विषयों की प्रवृत्ति से बन्ध होता है। अर्न्तमुखी मन अपने आप में केन्द्रित होता है। आत्म केन्द्रित होने पर वह स्वस्थ और संयमित हो जाता है। इसलिए सन्त कहते हैं कि

अपनी इन्द्रियों की वृत्ति को कछुआ की तरह संयमित रखकर अन्तर्मुखी बनने का प्रयत्न करो। कुरल काव्य में लिखा है-

''जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को उसी तरह अपने में खींचकर रखता है, जिस तरह कछुआ अपने हाथ-पैर को खींचकर भीतर छुपा लेता है, उसने अपने समस्त आगामी जन्मों के लिए खजाना छुपा रखा है।''

वस्तुतः मनुष्य का मन पारे की तरह है। अशुद्ध पारा खा लेने पर जीवन से हाथ धोने की नौबत आ जाती है, किन्तु वही पारा जब शुद्ध और संस्कारित हो जाता है, तो अमूल्य औषधि बनकर जीवन का रक्षक बन जाता है। संस्कारहीन न अशुद्ध पारे के समान जीवन को नष्ट भ्रष्ट कर देता है जबकि सुसंस्कृत और विशुद्ध मन जीवन को उन्नत, सुखी, महान्, उच्च और पवित्र बना देता है। मन की शक्तियाँ विलक्षण हैं। इसीलिए कहा है-

''जलेन जनितं पंकं जलेनैव परिशुद्धयति।
मनसैव कृतं पापं मनसैव परिशुद्धयति।।''

जैसे कीचड़ जल से ही उत्पन्न होता है तो उसका प्रक्षालन भी जल से ही किया जाता है, वैसे ही समस्त पाप मन से ही होते हैं और उनका प्रक्षालन भी मन से ही किया जाता है।

इन्द्रिय विषयासक्त बहिर्मुखी असंयमित मन पाप पंक उत्पन्न करता है, तो मन की अन्तर्मुखता पाप का प्रक्षालन करती है। इसीलिए कहा कि मन की विजय ही सबसे बड़ी है। हम कहते हैं-

हमको मन की शक्ति देना
मन विजय करें
दूसरों की जय से पहले
खुद की जय करें।
हमकों मन की शक्ति देना
भेद भाव अपने दिल से साफ कर सकें
दोस्तों से भूल हो तो माफ कर सकें
झूठ से बचे रहें सच का दम भरें।
दूसरों की जय से पहले खुद की जय करें।

प्रश्न है मन के नियन्त्रण का। आखिर मन को नियन्त्रित कैसे किया जाये। क्योंकि मन बड़ चंचल है, इसे नियन्त्रित करने में बड़े-बड़े योगी भी मात खा जाते हैं। मन को नियन्त्रित करना एक बहुत बड़ी समस्या है। यह समस्या अर्जुन के सामने भी थी। एक दिन अर्जुन ने महायोगी श्रीकृष्ण के समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा-

चञ्चलं हि मनः कृष्ण!प्रमाथी बलवद्दृढ़म्।
तस्याह निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करं।।

''हे कृष्ण! मन तो बड़ा बलवान्, चंचल, जिद्दी और सुदृढ़ है। मैं तो उसका निग्रह हवा को पकड़ने की तरह अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।''

मन को अपने वश में करने का मतलब है, उसे एक आज्ञाकरी सेवक बना लेना। आज्ञाकारी और विनीत सेवक अपने स्वामी के इशारे पर काम करता हे। स्वामी के 'आ' कहने पर आ जाता है और 'जा' कहते ही चला जाता है। वैसे ही विजितामना साधक का मन उसके वश में रहता है। वे अभ्यास और वैराग्य के बल पर अपने मन को नियन्त्रित कर लेते हैं। सन्त कहते हैं- हर साधक अपने अभ्यास और वैराग्य के बल पर अपने मन को नियन्त्रित कर सकता है। योग के आचार्य कहते हैं-

''अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः''

भगवान् महावीर के प्रिय शिष्य गौतम स्वामी से पूछा गया कि आप अपने मन को निग्रह कैसे करते हो? उन्होंने बड़ा सटीक उत्तर दिया-

मणो साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं खु निगिण्हामि धम्म सिक्खाई कंधगं।।

मन एक साहसी और भयंकर दुष्ट घोड़ा है जो चारों ओर दौड़ता है लेकिन मैं उस कंथक/चंचल घोड़े को धर्म शिक्षा से नियन्त्रित करता हूँ।

मन को धर्म शिक्षा से नियन्त्रित किया जा सकता है। तत्त्व ज्ञान के द्वारा मन को सही दिशा दर्शन दिया जा सकता है। जैसे प्रशिक्षित सेवक अपने स्वामी के इशारे और अभिप्राय के अनुसार कार्य करता है, वैसे ही धर्म शिक्षा से संस्कारित मन आत्मा की इच्छा के अरनुरूप ही प्रवृत्ति करता है। वह आत्मा के पूर्ण

नियन्त्रण में रहता है। स्वाध्याय, तत्त्वचिन्तन और तत्त्व के अभ्यास के बल पर मन को प्रशिक्षित और संस्कारित किया जा सकता है। कई बार लोग पूछते हैं- महाराज! आप अपने मन का कैसे वश में करते हैं? क्या आपका मन विषयों की ओर नहीं जाता? मैं लोगों को जवाब देता हूँ कि साधुका मन जहाज के पक्षी की भाँति होता है। समुद्री जहाज में बैठा पक्षी आसमान में चाहे जितना भी उड़ान भर ले वह लौटकर आयेगा वहीं। जब कभी भी हमारा मन इधर-उधर जाने को होता है, हम अपने तत्त्व ज्ञान के बल पर उसे लौटा लेते हैं। जैसे माँ अपने बेटे को गलत मार्ग में जाता देख उसे समझाकर लौटा लेती है वैसे ही उन्मार्ग की ओर जाते हुए मन को समझाईस देकर उसे तत्क्षण वापस लौटाया जा सकता है।

मन के नियन्त्रण के दो उपाय हैं- सम्यक् दिशादर्शन और प्रवाह परिवर्तन। मन को सही दिशादर्शन देकर उसे भटकने से रोका जा सकता है। जब कभी भी मन उन्मार्ग की ओर जाने को हो, हम उसे समझाकर लौटा सकते हैं। उस समय हम अपने मन से कहें- यह कार्य हमारी आत्मा के लिए हितकर नहीं है, यह धर्म मर्यादा के विरुद्ध है, इसका परिणाम बुरा है। इस प्रकार समझाकर मन को सही दिशा दी जा सकती है। इसके लिए आत्मा में दृढ़ता और संकल्प शक्ति की आवश्यकता है। मन को वही वश में कर सकता है जिसमें दृढ़ संकल्प हो। दृढ़ संकल्पी साधक मन की बातों में नहीं आता। उसके ऊपर मन के प्रलोभनों का कोई असर नहीं पड़ता। जब कभी भी उसका मन इधर-उधर भटकने को होता है, वह उसे समझाकर शान्त कर लेता है। मन को सही दिशादर्शन देकर उसे एक अच्छा मित्र बनाया जा सकता है।

मन पर नियन्त्रण का सरलतम उपाय है- प्रवाह परिवर्तन का। जब कभी भी मन विषयों की ओर उन्मुख हो, आप अपने मन की धारा को बदल दें। विषयों की ओर जाने वाले मन को स्वाध्याय, चिन्तन और भगवद् भक्ति में लगाकर अत्यन्त सरलता से नियन्त्रित किया जा सकता है।

मन पर नियन्त्रण की सही विधि ज्ञात न होने के कारण आज अधिकांश साधक उसे ठोक-पीटकर मारना चाहते हैं। परन्तु मनोविजय मारने से नहीं साधने से होती है। सन्त कहते हैं- ''मन को मारो नहीं मोड़ो।'' जब नदी में बाढ़ आती है वह नियन्त्रणहीन वेग और प्रवाह के कारण विभीषिका का रूप धारण कर लेती

हैं। जीवनदायी जल भी विनाशकारी बन जाता है। लेकिन नदी के उसी विनाशकारी जल के प्रवाह को जब नहरों और नालों द्वारा प्रवाहित कर खेतों में पहुँचाया जाता हे, तब वह जीवनदायी बन जाता है। इसी प्रकार मनोविजेता जब अपनी उन विनाशकारणी और उन्मार्गगामिनी वृत्तियों के प्रवाह की दिशा बदलकर उन्हें विकासकारी एवं सन्मार्गगामी बना देता है, तब वे शत्रु के बदले मित्र बन जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि आत्मा की इन उन्मार्गगामिनी आन्तरिक शक्तियों का विनाश नहीं, परिवर्तन करना है। उन्हें नया मोड़ देना है। जैसे बंजर खेत में खाद और मिट्टी बदल देने से वह उपजाऊ बन जाता है, वैसे ही आत्म शक्ति का क्षय करने वाली इन आन्तरिक वृत्तियों-प्रवृत्तियों/शक्तियों को सद्गुणों की खाद देने से ये उपयोग तथा आत्म विकास का आधार बनेगी।

मन पर विजय पाने का अर्थ उसे दबाना, सताना या उससे लड़ना नहीं है, वरन् विपरीत पथगामिनी मन की प्रवृत्तियों को मोड़कर उन्हें सन्मार्गगामिनी बनाना है। वास्तव में यदि देखा जाए तो प्रत्येक व्यक्ति में शक्ति का विपुल प्रवाह भरा है, किन्तु वह मार्ग भूलकर विषयासक्ति, वासना, कषाय वृत्ति आदि उन्मार्गों में अपनी उस शक्ति को प्रवाहित कर देता है। धीरे-धीरे ये उन्मार्गगामिनी शक्तियाँ उस पर हावी हो जाती हैं। इन शक्तियों को केवल विरोध या निरोध से नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है। मन की वृत्तियों को दबाने मात्र से मन की जय नहीं होगी। ऐसा करने से बाहर से ये दिखाई देता है किउन पर विजय हो गई पर अन्दर ही अन्दर वे बनी रहती हैं। और निमित्त मिलते वे पुनः उभर आती हैं। अतः मन को नियन्त्रित करने का यह सही तरीका नहीं माना जा सकता। उसका सही तरीका है- प्रवाह परिवर्तन। अर्थात् उन शक्तियों को अपने आप में रही हुई वृत्तियों/प्रवृत्तियों के साथ परिचय करना उनकी उपयोगिता जानना और फिर उनसे मैत्री करके उनके प्रवाह को मोड़ना, उन्हें अपना सहयोगी बना लेना यही मानो विजय का क्रम है।

तन मिला तुम तप करो

नदी के किनारे एक बड़ी चट्टान थी। बहुत से शैलानी आते, उसे पर बैठकर अठखेलियाँ खेला करते, तो कभी धोबी आकर उस पर कपड़े धोता था। एक दिन एक शिल्पी की निगाह उस चट्टान पर पड़ी। उसने उसे वहाँ से निकाला और अपने घर लाकर तराशना शुरू किया। और उस चट्टान को प्रतिमा का आकार मिल गया। पत्थर की चट्टान से प्रतिमा की अभिव्यक्ति ही भारतीय संस्कृति है।

जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक प्राणी में अनन्त सम्भावनाएँ हैं। उनकी अभिव्यक्ति अनुकूल निमित्तों और साधना के बल पर होती है। प्रतिमा में छिपे भगवान् की भाँति आत्मा में परमात्मा है। ''अप्पा सो परमप्पा'' आत्मा में ही परमात्मा है, यह जैन दर्शन का सूत्र वाक्य है। प्रत्येक प्राणी में परमात्मा की शक्ति विद्यमान है। इस शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए तप साधना जरूरी है। शास्त्रों में कहा है-

पाषणेषु रक्षा हेमः दुग्ध मध्ये यथा घृतम्।
तिल मध्ये यथा तैलं देह मध्ये तथा शिवः।।

जिस तरह स्वर्ण पाषण (ore) में स्वर्ण छिपा होता है, दूध के अन्दर घी समाविष्ट रहता है, तिल क अन्दर तेल व्याप्त होता है, उसी तरह इस देह में आत्मा विद्यमान है। उस आत्मा की अभिव्यक्ति ही परमात्मा की उपलब्धि है। यही धर्म साधना का मूल ध्येय है। स्वर्ण पाषण को अग्नि में तपाया जाता है, तब उाकी कालिमा-किट्टिमा गलकर पृथक् होती है, स्वर्ण का शुद्ध स्वरूप निखर उठता है। वह हमारे गले का हार बन जाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति तप अनुष्ठान करता है उसकी आत्मा कुन्दन बन जाती है।

दूध में घी व्याप्त है पर उसकी उपलब्धि सहज नहीं है। घी निकालना है तो पूरी प्रक्रिया अपनानी पड़ेगी, दूध को जमाना, उसका दही बनाना होगा। उस दही का मन्थन कर नवनीत निकालना होगा। नवनीत को जब अग्नि पर तपायेंगे तब घी प्रकट होगा। ऐसे ही व्यक्ति जब तप अनुष्ठान करता है तब उसके अन्तरंग में छाई समस्त विकृतियाँ/कलुषताएँ विगलित हो जाती हैं, चित्त और चेतना की

सारी अशुद्धि दूर हो जाती है। तिल में तेल है, किन्तु तभी निकलता है, जब हम उसे कोल्हू में पेरते हैं। अपने अन्दर छिपी भगवत्ता को भी हम इसी तरह प्रकट कर सकते हैं। आवश्यकता है उस शक्ति को पहचानने की और तदनुकूल प्रयत्न की।

नगर के मध्य एक विशाल मन्दिर था। मन्दिर की मुख्य वेदी पर एक भव्य प्रतिमा विराजमान थी। प्रतिमा बड़ी मनोज्ञ थी। हजारों श्रद्धालुओं रोज आकर प्रतिमा की पूजा-अर्चना किया करते थे। प्रतिमा के ठीक सामने पाषण का एक खम्भा खड़ा था। उसे प्रतिमा की पूजा-भक्ति सहन नहीं होती थी। एक दिन एकान्तर पाकर उसने प्रतिमा से कहा- ''अरी बहिन! देखो तो मनुष्यों का यह कैसा पक्षपात है। तेरी-मेरी जाति एक, वंश एक, अंश एक फिर भी यह कैसा भेदभाव कि जो आता है तेरी पूजा करता है और मेरी पूजा तो दूर, उल्टे मुझसे टिककर बैठ जाता है। खम्भे के उपालम्भ का सुनकर प्रतिमा मुस्करा उठी।'' उसने कहा- बन्धुवर! अपनी इस उपेक्षा का कारण तुम स्वयं हो। तुम्हें मेरी पूजा और प्रतिष्ठा सक इतनी ईर्ष्या हो रही है, पर मेरे यहाँ तक आने में मैंने कितनी साधना की, कष्ट सहा है उसका तुम्हें अन्दाज नहीं है। जो कष्टों को सहता है, तपस्या करता है, वही शाश्वत प्रतिष्ठा को उपलब्ध कर पाता है। कुछ क्षण रुककर प्रतिमा ने पुनः कहा- ''तुम्हें याद है एक दिन शिल्पी हमें लेने के लिए खदान में आया था। अपने बड़े-बड़े औजारों से प्रहार करके हमें अपने परिजनों से छुड़ाया था। बड़ा कष्ट हुआ, पर मेरे प्रति, शिल्पी की आँखों में उमड़ती हुई ममता ने मुझे खींच लिया। शिल्पी खदान से उठाकर मुझे अपने घर लाया और मेरी छाती पर चढ़कर धारदार छैनी और हथौड़ों से प्रहार करने लगा। मैं चुपचाप सहती रही। थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि मेरा बेकार भाग छँटता जा रहा है और मुझे सुस्न्दर आकार मिलता जा रहा है। शिल्पी ने मुझे तराश-तराश कर प्रतिमा का आकार प्रदान कर दिया। तुम देख रहे हो लोग मुझे भगवान् मानकर पूजते हैं। तुम्हें मेरी पूजा दिखती है, पर उसके पीछे की तपस्या/साधना नहीं दिखती। काश! तुम भी मेरी तरह शिल्पी का अनुकरण करते तो तुम्हारी यह दशा नहीं होती।'' प्रतिमा की बात सुनकर खम्भा निरुत्तर हो गया। ठीक यही स्थिति इन्सान की है। इन्सान में भगवान् छिपा है, पर उसकी अभिव्यक्ति के लिए तप

साधना जरूरी है। आचार्य श्री कहते हैं-

तन मिला तुम तप करो, करो कर्म का नाश।
रवि शशि से भी अधिक है, तुममें दिव्य प्रकाश।।

प्रत्येक प्राणी में अपार क्षमता है, उसकी अभिव्यक्ति तपस्या के बल पर होती है। मानव जीवन की सार्थकता अपनी आन्तरिक शक्तियों के विकास में है। आत्मशक्ति के विकास और आत्मोपलब्धि के लिए तप सशक्त माध्यम है। मानव जीवन में यह सहज साध्य है। मानव जीवन का सार तप साधना है।

यह तन पाय महातप कीजै, यामें सार यही है।

सन्त कहते हैं, मानव जीवन कड़वी तुम्बी की भाँति है। यदि हम इसका उपभोग करते हैं तो वह जहर की तरह विघातक हो जाती है। फूड प्वॉयजन बन कर जानलेवा सिद्ध हो जाती है। लेकिन उसी तुम्बी के सहारे हम बड़े-बड़े नदी नालों को तैरकर पार भी कर सकते हैं। सन्त कहते हैं ''जीवन का उपभोग नहीं, उपयोग करो।'' तप साधना ही जीवन का श्रेष्ठतम उपयोग है। जीवन का उपयोग वही कर पाते हैं जिनकी आत्मा जागृत होती है, जो अपनी आत्मशक्ति को पहचानते हैं। विवेकीजन इस जीवन को पाकर संसार से पार उतर जाते हैं तो विवेक के अभाव में जीने वाले लोग संसार से पार उतर जाते हैं तो विवेक के अभाव में जीने वाले लोग संसार में डूबे रहते हैं। शास्त्रकार कहते हैं-

येनैव देहेन विवेकहीना, संसार बीजं परिपोषयन्ति।
तेनैव देहेन विवेकभाजा, संसार बीजं परिशोषयन्ति।।

विवेकहीन व्यक्ति जिस देह से संसार का पोषण करते हैं, विवेकी उसी से संसार को नष्ट कर डालते हैं। बारह भावना में हम पढ़ते हैं-

काना पौड़ा पड़ा हाथ यह चूसै तो रोवे।
फले अनन्त जु धर्म ध्यान की भूमि विषै बोवे।।

यह शरीर उस काने गन्ने के समान है जो रसहीन है, जिसे चूसने में कोई सार नहीं है। लेकिन उसी गन्ने को भूमि पर बोने पर वह फलीभूत होकर मधुर रस प्रदान करता है इसी प्रकार यह शरीर भी सारहीन है। इसका उपभोग करने पर यह दुख का हेतु बनता है। परंतु इसे धर्मध्यान की भूमि में बोने पर यह अनन्त फल

प्रदान करता है।

वस्तुतः उत्तम तप हमारी आत्मशुद्धि और उपलब्धि ही सशक्त साधना है। चित्त में छायी विकृतियों के शोधन का यही एक मार्ग है। करोड़ों वर्षो से संचित कर्म तप से निर्जरित हो जाते हैं।

''भव कोडि संचियं कम्मं तवसा णिरज्जई''

तपस्या के बिना मोक्ष की उपलब्धि सम्भव नहीं। जैसे अर्जित धन उपभोग के बिना नष्ट नहीं होता वैसे ही संचित कर्म तपस्या के बिना नष्ट नहीं होते हैं। इसलिए कर्म निर्जरा के लिए तप आवश्यक है। वैदिक ग्रन्थों में भी ''तपसा किल्विषं हन्ति'' तप द्वारा पाप नाश होते हैं, ऐसा कहकर उसे आत्मशोधन का उपाय बताया गया है। तप की महिमा बताते हुए कुरल काव्य में लिखा है-

सर्वेषामेव कामानां सुसिद्धौ साधनं तपः।
अतएव तपस्यार्थं यतन्ते सर्व मानवाः।।

तप समस्त कामनाओं को यथेष्ट रूप में पूर्ण कर देता है, इसलिए लोग जगत् में तपस्या के लिए उद्योग करते हैं।

साधना के क्षेत्र में तपस्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन शास्त्रों में तप को मोक्षमार्ग का प्रमुख अंग बताकर धर्म निरूपित किया गया है।

''धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अङ्क्षसा संयमों तवो।''

तप की महिमा बताते हुए आचार्य अकलंक देव कहते हैं- **''तप सर्वार्थ साधनं''** तप से सभी अर्थों की सिद्धि होती है। तपस्वियों की चरणरज से पवित्र स्थान ही तीर्थ बने हैं। जिसके जीवन में तप नहीं वह तिनके से भी लघु है। उसे सब गुण छोड़ देते हैं। वह संसार से मुक्त नहीं हो सकता। भगवती आराधना में तप के माहात्म्य का उल्लेख करते हुए कहा है-

तं णत्थि जं ण लब्भई तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स।
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतणं डहदि य तवग्गी।1472।
सम्मं कदस्स अपरिस्सवस्स ण फलं तवस्स वण्णेदुं।
कोई अत्थि समत्था जस्स वि जिब्भासयसहस्सं।1473।

अर्थात् जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो निर्दोष तप से प्राप्त नहीं

होता। जैसे अग्नि तृण को जलाती है वैसे ही तप रूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को जलाकर भस्म कर डालती है। उत्तम प्रकार से किया गया आस्रव रहित तप का फल वर्णन करने में हजारों जिह्वाओं वाला इन्द्र भी समर्थ नहीं है।

तप का लक्षण - तप की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। किसी ने व्रत विशेष को ही तप माना है, किसी ने वनवास, कन्दमूल भक्षण अथवा सूर्य के आतम को ही तप माना है, तो किसी ने देह और इन्द्रियों के दमन से ही तप की पूर्णता स्वीकार की है। किसी ने मात्र मानसिक तितिक्षा को ही तप मानने की हिमायत की है। परन्तु जैनधर्म में तप का विशद अर्थ किया गया है और उसमें शरीर मन और आत्मा की शुद्धि करने वाले सारे प्रयोगों को स्थान दिया गया है।

'इच्छा निरोधो: तप:' यह जैनों का प्रसिद्धि सूत्र है। इच्छाओं का निरोध ही तप का मूल उद्देश्य है। इसलिए अज्ञान पूर्वक लौकिक ख्याति, पूजा, प्रतिष्ठा और लाभ की भावना से किये गये तप को 'बाल तप' (अज्ञानियों का तप) कहा गया है। **'कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तप:'** ऐहिक आकांक्षाओं से ऊपर उठकर सिर्फ कर्मक्षय के लिए किया गया पुरुषार्थ ही तप है। आचार्य अकलंक देव ने तप का लक्षण बताते हुए लिखा है- **'कर्म निर्दहनातप:'** कर्मों के दहन अर्थात् भस्म कर देने के कारण ही इसे तप कहते हैं। जैसे अग्नि, संचित तृणादि ईंधन को भस्म कर डालती है उसी प्रकार तप भी जन्म-जन्मान्तरों के संचित कर्मों को जला डालते हैं। तथा देह और इन्द्रिय विषयों को रोककर उन्हें तपा देते हैं। **'तवो विसयविणिग्गहोजत्थ'** तप वही है जहाँ विषयों का निग्रह है।

तप का उद्देश्य - शिष्य ने बारह वर्ष की साधना कर जलतरणी विद्या सिद्ध की। वह अपनी सिद्धि से हर्षित होकर गुरु के पास पहुँचा। गुरु चरणों में अपनी सिद्धि का बखान किया। गुरु ने शिष्य का सम्बोधित करते हुए कहा- ''वत्स तुमने अपनी बारह वर्ष की साधना को दो कौड़ी में मिला दिया।'' शिष्य को बड़ा अचरज हुआ। उसने तो सोचा था कि मेरी इस सिद्धि पर प्रसन्न होकर गुरुवर मुझे आशीष देंगे, पर यहाँ तो उल्टा हो रहा है। उसने कहा- गुरुदेव, मैं कुछ समझा नहीं।

गुरु ने रहस्य उद्घाटित करते हुए कहा- ''जलतरणी विद्या की सिद्धि से क्या उपलब्धि ? नाविक को दो पैसा देते इस पार से उस पार पहुँचा देता। दो

पैसे बचाने के लिए बारह वर्ष की साधना खपानी कौन सी बुद्धिमानी है? तुमने जलतरणी विद्या सीखी, यदि भवतरिणी विद्या सीखी होती तो अभी तक संसार से परा उतर गये होते।''

गुरु के सम्बोधन से शिष्य की आँखें खुल गईं।

तप का उद्देश्य आत्मशुद्धि और आत्मोपलब्धि ही है। भेद विज्ञानी आत्मा साधक ही सच्चा तप कर सकते हैं। शास्त्रों में बारह प्रकार का तप बताया गया है।

अनशन – अनशन का अर्थ है उपवास। बाह्य तपों में यह पहला तप है। जैन परम्परा में उपवास का बहुत अधिक प्रचलन है। प्रायः अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथियों में लोग उपवास करते हैं। पयुर्षण पर्व के दिनों में तो उपवास का और अधिक प्रचलन है। उपवास का बड़ा महत्त्व है। उपवास से शरीर की शुद्धि होती है, मन शान्त होता है, आकुलताएँ घटती हैं। कहावत है ''**लङ्घनम् परमौषधम्**'' लंघन परम औषधि है। वैद्यगण ज्वर आदि की तीव्रता में लंघन का परामर्श देते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक ने भी अपने शोधों में यह पाया है कि उपवास के द्वारा कैंसर जैसी घातक बीमारियों से बचा जा सकता है। आज उपवास पर आधारित पूरी चिकित्सा पद्धति विकसित हुई है। चिकित्सकों के अनुसार सप्ताह में एक दिन उपवास करने से कैंसर जैसी बीमारी ठीक हो जाती है। यह उपवास का भौतिक लाभ है।

जैनधर्म के अनुसार उपवास का प्रयोजन सब प्रकार की आकुलताओं से मुक्त होकर आत्मा में अनुरक्त होना है। उपवास का शाब्दिक अर्थ भी यही है उप+गृहस्थी के समस्त विकल्पों से मुक्त रहो, व्यवहार-व्यवसाय की उलझनों से बचो। उपवास के दिन अपना सारा समय तत्त्व चिन्तन, स्वाध्याय, मन्त्रजाप और धर्मध्यान में बिताना चाहिए, तभी उपवास का वास्तविक लाभ मिल सकता है।

प्रायः भोजन के त्याग को ही उपवास माना जाता है। पर मात्र भोजन का त्याग ही उपवास नहीं है। भोजन के साथ-साथ विषयों का भी त्याग होना चाहिए। कहा है-

कषाय विषयाहार त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः सस्तुः विज्ञेयः शेषं लङ्घनकं विदुः।।

आहार के साथ इन्द्रिय विषयों की लालसा और कषायों का त्याग ही उपवास है। विषय-कषायों के त्याग के अभाव में किया गया उपवास, उपवास नहीं लंघन है। अतः अपनी लालसा को नियंत्रित करने का प्रयत्न करें। कुछ लोग उपवास करते हैं और समय पास करने के लिए उपन्यास पढ़ते हैं, कुछ टी.वी. देखते हैं या फिल्म देखने चले जाते हैं। यह सब अनुचित है, क्योंकि इनमें वैषयिक लालसा है। वैषयिक लालसा के छूटे बिना धर्मानुष्ठान सार्थक नहीं होते। धर्म साधना की मूल कसौटी है- विषय विकारों पर विजय।

उपवास आदि तप शक्ति के अनुसार करना चाहिए। कुछ लोग शक्ति को छिपाते हैं तो कुछ शक्ति का उल्लंघन करते हैं। दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं। कहा गया है **'शक्तितस्त्यागतपसी'** तप और त्याग शक्ति के अनुसार ही करना चाहिए। शक्ति का उल्लंघन कर उपवास आदि करने से कई बार विषम स्थितियों का सामना करना पड़ जाता है। अभ्यास पूर्वक ही उपवास किया जाना चाहिए। उपवास न कर सकें तो मात्र जल ग्रहण करें अथवा पेय पदार्थ पर रहें। और यदि इतना भी नहीं हो सके तो एकाशन का अभ्यास करें। नीतिवाक्यामृतम् में कहा है-

''तद्व्रतमाचरितस्यं यत्र न संशयतुलामारोहति शरीरमनसी''

उसी प्रकार का व्रताचरण करना चाहिए, जिससे शरीर और मन पर विपरीत प्रभाव न पड़े।

उपवास के साथ यदि ध्यान का अभ्यास करें तो एकाग्रता अधिक होगी। वैज्ञानिक भी कहते हैं- व्यक्ति जब भोजन करता है तो उसकी बहुत सी ऊर्जा भोजन को पचाने में खर्च हो जाती है। इसी कारण भोजन के बाद थोड़ी सुस्ती आती है, प्रमाद आता है। मस्तिष्क को पूरी एनर्जी नहीं मिल पाती। जिस दिन उपवास किया, उस दिन तो मशीन में कुछ डाला ही नहीं, इसलिए शरीर में संचित सारी एनर्जी ब्रेन को ही मिलती है। अतः एकाग्रता के साथ आत्मचिन्तन ध्यान हो सकता है।

चित्त से विषय कषायों की वृत्ति, उनके प्रति लालसा के घटने का नाम उपवास है।

ऊनोदर – दूसरा बाह्य तप है– 'ऊनोदर' अर्थात् भूख की अपेक्षा कम खाना। भर पेट नहीं खाना। भोजन परोसा जा रहा है, आग्रह अनुनय के साथ भाँति–भाँति के व्यंजन परोसे जा रहे हों, फिर भी उसे स्वीकार नहीं करना ऊनोदर तप है। उत्कृष्ट ऊनोदर तप तो मुनि करते हैं। आहार लेने गये, सब प्रकार के व्यंजन बनाकर, थाली सजाकर दिखाई। उसमें से केवल एक ग्रास ग्रहण कर चले आना है। यह है उत्कृष्ट ऊनोदर। यह उपवास से भी कठिन है। इसी तरह भूख से एक ग्रास कम खाना जघन्य ऊनोदर है। भोजन के प्रति आसक्ति घटाने के लिए, निद्रा पर विजय करने के लिए, ध्यान की सिद्धि के लिए भूख से कम भोजन ग्रहण किया जाता है। भोजन की इच्छा ही नहीं करना,, चौके में नहीं जाना तो सरल है किन्तु चौके में जाकर, सब कुछ देखकर भी केवल एक ग्रास लेना और कुछ नहीं लेना, इसमें अधिक संयम है। संघ का एक प्रसंग है। एक महाराज जी अधिकतर उपवास किया करते थे। इसी क्रम में अष्टमी या चौदस की तिथि में आचार्य महाराज से उन्होंने उपवास का व्रत लेने की प्रार्थना की। आचार्यश्री ने कहा– नहीं, ऊनोदर कर लेना। दूसरे मुनि भी पास थे, उन्होंने सोचा आचार्यश्री उपवास का व्रत नहीं देंगे, सो 'ऊनोदर व्रत' लेने का निवेदन किया। आचार्यश्री ने कहा– 'उपवास कर लेना'। मूल में भावना है आसक्ति घटाने की, इच्छाओं के निरोध की। यह है ऊनोदर तप।

रस परित्याग – **''रसः प्रीति विवर्धनः''**– अर्थात् रस वह जो भोजन में प्रीति बढ़ाये। नमक, शक्कर, घी आदि रस हैं जो भोजन में स्वाद बनाते हैं। सरस भोजन में बड़ा आनन्द आता है। कहीं थोड़ी गड़बड़ हो जाये तो भोजन नीरस हो जाता है। जिह्वा की लिप्सा, रसना इन्द्रिय पर नियन्त्रण करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है– रस परित्याग तप। छह रस हैं– इनका त्याग करना। कभी एक दिन रस का, कभी दूसरे का, कभी सब रसों का त्याग करना। कभी किसी एक रस का, कभी दूसरे का, कभी सब रसों का त्याग करना। हम कभी एक दिन बिना नमक का भोजन करके देखें। यह रस का त्याग रसना इन्द्रिय पर संयम और विजय का प्रतीक है।

विविक्त शय्यासन – एकान्त में ध्यान लगाना। सुनसान स्थान में घण्टों ध्यान मग्न रहना, भय संज्ञा पर विजय की साधना का अभ्यास है। कोई बहुत

बड़ा मकान हो तो। ऊपरी चौथी मंजिल जो खाली हो उसमें एकान्त में किसी एक को कहा जाय- ''सारी रात निकाल दो।'' वह भयभीत हो जायेगा। दो चार लोग हों तो कहीं भी रह सकते हैं। इस एकान्त में भय पर जय का महातप है विविक्त शय्यासन। पहले जब संघ इतना बड़ा नहीं था आचार्य श्री अष्टमी और चतुर्दशी को जंगल में, वीराने श्मशान में ध्यान किया करते थे। उपवास रहता था, और 24 घण्टे एक ही आसन पर स्थिर रहा करते थे। ऐसा तप श्रेष्ठ मुनि करते हैं। एक बार राजस्थान के केकड़ी ग्राम का प्रसंग है। आचार्य महाराज आये। देखा- महाराज जी नहीं हैं। आचार्यश्री बिहार कभी बता कर नहीं करते। सब चिन्तित हो गये। लोगों ने सोचा- कहीं महाराजश्री बिहार तो नहीं कर गये? पूरे इलाके में खबर फैल गयी। सब पूछ रहे थे- ''महाराज कठे गया'', महाराज कहाँ चले गये। सब लोग ढूँढने लगे। दो ग्रामीण कहीं से आ रहे थे, तो देखा- महाराजश्री पद्मासन में प्रतिमा सम स्थिर ध्यान में लीन हैं। यह है विविक्त शय्यासन तप। भीड़ से, कोलाहल से परे एकदम निर्जन एकांत में अपनी आत्मा में निमग्न हो जाना, सब सम्बन्धों से मुक्त हो जाना, सबसे अनासक्त हो जाना।

वृत्ति परिसंख्यान तप - मुनि आहार के लिए जो नियम लेते हैं, जिसे विधि कहते हैं, वह वृत्ति परिसंख्यान है। इसका शास्त्रीय नाम है- 'अभीग्रह'। भोजन आहार सम्बन्धी अभिग्रह को ही वृत्ति परिसंख्यान कहते हैं। बहुत से लोग आहार देना चाहते हैं। चौके लगाते हैं। किसी व्यक्ति विशेष के प्रति, आहार दाता के प्रति लगाव, आसक्ति न हो, इसलिए यह वृत्ति परिसंख्यान का नियम लिया जाता है। कठिन से कठिनतम नियम मुनिगण लेते हैं। भगवान् महावीर का चन्दनबाला के यहाँ आहार छह माह के उपरान्त हुआ था। आचार्य शांतिसागर महाराज ने भी ऐसे-ऐसे नियम लिए कि उन्हें छत्तीस दिनों के बाद आहार मिला। यह अलग अनुभव है। आहार मिले तो ठीक, न मिले तो ठीक। यह आशा, आकांक्षा पर विजय का मार्ग है। वृत्ति परिसंख्यान में चार प्रकार की वृत्ति होती है। भोजन की वृत्ति, पात्र की वृत्ति, दाता की वृत्ति और गृह की वृत्ति नियम होते हैं- आज अमुक प्रकार के दाता के यहाँ जायेंगे, वे इस प्रकार खड़े हो जायेंगे, इतने लोग खड़े हों तो आहार लेंगे अन्यथा नहीं। आज अमुक के घर तक ही जाना संभव है, विधि मिल जाये तो ठीक। आज अमुक पात्र में आहार दिखाया

गया तो ग्रहण करेंगे। आहार तो कर पात्र में ही लेना है लेकिन, सोच लिया- आज स्वर्ण थाल में आहार दिखाया गया तो ही ग्रहण करें। स्वर्ण से कोई आसक्ति नहीं हैं, लेकिन यह नियम भी अपनी पुण्य की परीक्षा और आशा पर जय के लिए होता है। एक बार हमने नियम लिया कि ''आज चाँदी के पात्र में नहीं लेंगे'' अस्वस्थता चल रही थी। साथ में एक ब्रह्मचारी जी थे। उन्होंने हमारे लिए औषधि चाँदी की कटोरी में घोल रखी थी। चाँदी के पात्र में नहीं लेना चले आये। यह पात्र की वृत्ति है। आहार में इतने प्रकार की ही सामग्री लेंगे, यह भोजन की वृत्ति है। कभी-कभी मुनि किसी श्रावक विशेष का नियम भी लेते हैं। एक नगर में एक श्रावक विशेष का नियम भी लेते हैं। एक नगर में एक श्रावक प्रतिदिन चौका लगाते, पर हमारी विधि नहीं मिल रही थी। उनकी बहुत श्रद्धा थी, पर आहार उनके यहाँ नही हो पा रहे थे। एक दिन हमने नियम लिया कि आज उन्हीं के यहाँ जायेंगे। आहार के लिए निकले, उनके यहाँ पर गये, वह नदारत। लौटकर मन्दिर आ गये। बाद में पता चला, वो बाहर चले गये थे। उनके यहाँ चौका ही नहीं लगा। यह वृत्ति परिसंख्यान का तप है। आजकल इसका रूप कुछ विकृत हो गया है। विधि लेने के बाद चक्कर पे चक्कर लगाना। एक या दो चक्कर में विधि मिल जाये तो ठीक है, तीन से अधिक चक्कर नहीं होना चाहिए। आचार्य कहते हैं- जो सहज भाव से उपलब्ध हो वही ठीक है। नियम लेकर विद्युत की तरह निकल जायें, दाता को पता ही नहीं चले कि उसके थाल में, हाथ में क्या है? महाराज ने कब उसे देखा? तब यह वृत्ति परिसंख्यान का तप होता है।

काय क्लेश - शारीरिक कष्टों को सहने का अभ्यास। एक आसन पर खड़े रहना, एक पैर पर खड़े रहना, एक ही आसन पर देर तक ध्यानस्थ हो जाना। ये सब काय क्लेश तप के अन्तर्गत है। तो क्या यह शरीर को कष्ट देने के लिए है? आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं- अपने भेद विज्ञान को दृढ़ बनाना चाहते हो तो कष्ट सहिष्णु बनो। जो जितना कष्ट सहिष्णु बनता है वह उतना ही बड़ा साधक होता है। कष्टों से भय करोगे तो कभी भी मार्ग से विचलित हो सकते हो।

'अ दुक्ख भाविदं णाणम् दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहा बलं जोई भावह दुक्खस्स भावना'।।

यदि बिना दुख के, बिना कष्ट के ज्ञान प्राप्त हो जाये, तो यह सुख से

प्राप्त ज्ञान, दुःख आते ही विलुप्त हो जाता है। इसलिए कहते हैं- हे योगी! जब तक तुममें सामर्थ्य है, बल है ''भावह दुक्खस्स भावना'' कष्ट की, दुख की भावना भाते रहो। जितने कष्टों के मध्य चलने का अभ्यास करोगे, उतने ही दृढ़ मजबूत बनोगे। उपसर्ग और परिषहों को सहन करो, उनसे डरो मत। आज व्यक्ति मजबूर बना हुआ है। सन्त कहते हैं मजबूर नहीं-मजबूत बनो। अपनी धारणा को, निष्ठा को मजबूत बनाओ। दृढ़ बनाओ। इसके लिए शारीरिक बल की नहीं मानसिक बल की आवश्यकता है। आचार्यश्री कहते हैं- पावर (Power) नहीं विल पावर (Will Power) बढ़ाओ। शरीर की शक्ति मानसिक शक्ति के बिना काम की नहीं। जिनका मानसिक बल जितना मजबूत होता है, वह उतना ही बड़ा साधक होता है। मोक्षमार्ग में पहलवान तन नहीं, पहलवान मन चाहिए। तन के कष्ट को तन नहीं मन सहता है। मन में ही कष्ट की अनुभूति होती है। यदि मन में सहनशक्ति आ गयी तो बड़े से बड़े कष्ट भी विचलित नहीं कर सकते। उन्हें सजगता से सहा जा सकता है। यदि सहन शक्ति नहीं है तो बलशाली व्यक्ति भी एक मच्छर के काटने से विचलित हो सकता है। इसलिए भेदविज्ञान की साधना करना है,आत्मा की उपलब्धि करना है, तो कष्ट सहन करने का अभ्यास करो। थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करने से एक दिन इतनी समता, क्षमता आ जाएगी कि बड़ी से बड़ी प्रतिकूलता में भी अविचलित रहोगे। सुख के वातावरण में साधना तो वैसे ही है- ''कि गद्दे पर बैठकर शरीर भिन्न है आत्मा भिन्न है। भिन्न है, भिन्न है, कह रहे हैं और एक मच्छर काटे तो खेद है खिन्न है''। इस तरह थोड़ी प्रतिकूलता से खेद-खिन्न हो जाये वहाँ साधना नहीं होती।

ये छह बाह्य तप हैं। इनका अपनी शक्ति के अनुरूप आचरण करना चाहिए। ये बाह्य तप कहलाते हैं क्योंकि ये दिखायी पड़ते हैं। कई बार इन तपों को करने वालों का उद्देश्य भी दूसरा होता है। कुछ तप करते हैं लोक में प्रतिष्ठा बढ़ाने, कुछ तन्त्र-मन्त्र की सिद्धि के लिए तो कुछ भौतिक उपलब्धि के लिए। ये बाह्य तप यदि बाह्य उपलब्धि के लिए किया जायें तो उत्तम तप नहीं है। अपने परिणामों की निर्मलता, शुद्धि के ध्येय से, समता की भावना से किया तप ही उत्तम है। समता भाव से किया छोटा सा तप भी कार्यकारी है और समता का अभ्यास नहीं है तो बड़ा से बड़ा तपानुष्ठान भी निरर्थक है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं-

''किं काहिदि वणवासो, काय किलेसो विचित्त उपवासो।
अज्झयन मौन पहुदि समदा रहिदस्स समणस्स''।।
मासोपवास करना, वनवास जाना।
आतापनादि तपना, तन का सुखाना।।
सिद्धांत का मनन, मौन सदा।
ये सब व्यर्थ हैं, श्रमण के बिन साम्यपाना।।

यदि समता जीवन में नहीं आयी तो यह काय क्लेश, यह वनवास,ये उपवास, ये अध्ययन, मौन साधना किस उपयोग की? तप का मूल प्रयोजन है- परिणामों की शुद्धि, कर्मों की निर्जरा।

अभ्यन्तर तप - परिणामों की निर्मलता और मन के निग्रह के लिए किया जाने वाला तप अभ्यन्तर तप कहलाता है। अभ्यन्तर तप ही साधना का मूल है। बाह्य तप, अभ्यन्तर तप के साधन हैं। जैसे अन्तरंग शुद्धि के अभाव में बाह्य शुद्धि के अभाव में बाह्य शुद्धि नहीं होती उसी प्रकार अभ्यन्तर तप के अभाव में बाह्य तप कार्यकारी नहीं है। अतएव तप को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। शारीरिक कष्टों को सहन करना उतना कठिन नहीं है, जितना मानसिक सन्ताप को। आज लोग बाह्य तपों की ओर जितना अनुराग रखते हैं, अभ्यन्तर तप पर उतना जोर नहीं देते। यह एक बहुत बड़ी भूल है। आचार्य समन्तभद्र ने कुन्थुनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है-

बाह्यं तपः परम दुश्चरमाचरंस्त्व।
माध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम्।

हे भगवान्! आपने अपने भीतरी तप को बढ़ाने के लिए ही कठिनतर बाह्य तप का अनुष्ठान किया था।

अतएव बाह्य तपों के साथ अभ्यन्तर तप का स्वरूप भी जानने की आवश्यकता है। अभ्यन्तर तप छह हैं- प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और ध्यान।

प्रायश्चित्त - किए गये अपराधों के शोधन का प्रायचित्त कहते हैं। 'प्राय' का अर्थ है 'अपराध' और 'चित्त' का अर्थ होता है- 'शोधन'। अपराधों

के शोधन की प्रक्रिया को प्रायश्चित्त तप कहते हैं।

यह एक ऐसा तप है, जिसमें अपने अज्ञान व प्रमादवश हुई भूलों का अहसास होते ही साधक का मन पश्चात्ताप से भर जाता है तथा वह निश्छल भाव से उसे अपने गुरु के समक्ष प्रकट कर देता है। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध वैद्य और रोगी के जैसा है। जैसे कोई रोगी किसी कुशल वैद्य के हाथों अपनी चिकित्सा कराते समय अपने रोग की स्थिति को छिपाये बिना उसके समक्ष ज्यों का त्यों प्रकट कर देता है और वैद्य रोगी के सत्व और रोग के अनुसार हीनाधिक मात्रा में कड़वी मीठी जैसी भी औषधि देता है वह उसे अपने लिए हितकारी मानकर स्वीकार लेता है, वैसे ही शिष्य भी अपने अज्ञान व प्रमादवश हुई भूलों का अहसास होते ही गुरु के समक्ष जाकर निश्छल भाव से उसे ज्यों का त्यों प्रकट कर देता है और गुरु उसे उसके दोष और सामर्थ्य के अनुसार जैसा भी प्रायश्चित्त देते हैं वह उसे अपने लिए कल्याणकारी मानकर अहोभाव से स्वीकार करता है।

कुछ लोग प्रायश्चित्त को दण्ड समझते हैं। प्रायश्चित्त दण्ड नहीं है। दोनों में अन्तर है। प्रायश्चित्त में सहज स्वीकृति है, दण्ड में मजबूरी। प्रायश्चित्त लेने वाले का मन पश्चात्ताप से भरा होता है, जबकि दण्ड भोगने वाले को प्रायः अपराध बोध भी नहीं रहता, यदि कदाचित् रहता भी है तो उसके प्रति पश्चात्ताप का भाव नहीं रहता। प्रायश्चित्त को लेने वाला उसे समझता है, स्वयं पर गुरु की कृपा, दण्ड को समझा जाता है- बोझ। दोनों की मानसिकता में महान् अन्तर है, अतः दोनों एक नहीं कहे जा सकते। प्रायश्चित्त वही लेता है जिसका मन सरल होता है। मेरे जीवन का एक बड़ा प्रेरक प्रसंग है- एक बार आचार्य महाराज ने सबको एक नियम दिया। मैं अस्वस्थ था, अतः महाराजश्री से निवेदन कर दिया- ''मुझे असुविधा होगी, आपकी आज्ञा है, अतः प्रयास करूँगा, नियम नहीं लेता।'' आचार्यश्री का मेरे लिए आग्रह भी नहीं था। समय पूरा हुआ। कुछ नियमों का पालन नहीं कर सके। हम सबने आचार्यश्री से उसके लिए प्रायश्चित्त की प्रार्थना की। सबको प्रायश्चित्त दे दिया गया। मुझे कोई प्रायश्चित्त नहीं दिया। मैंने महाराजश्री से पुनः कहा- ''दोष मेरा भी है, मुझे भी प्रायश्चित्त दें।'' आचार्यश्री- ''तुम्हारे लिए प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं है।'' मैंने सोचा- शायद आचार्य महाराज कुछ और सोच रहे होंगे इसलिए टाल दिया है। पुनः- उनके चरणों में

निवेदन किया- ''महाराजजी मुझसे भी दोष हुआ है, प्रायश्चित्त चाहिए''। आचार्य महाराज बोले- ''कहा न, तुम्हारे लिए प्रायश्चित्त की जरूरत नहीं है।'' पहली बार मना किया। दूसरी बार मना कर रहे हैं। जरूर मुझसे कहीं भारी भूल हो गयी है। भीतर ही भीतर आकुलता, छटपटाहट होने लगी। क्या मैं प्रायश्चित्त लेने का भी पात्र नहीं रहा! किसी कार्य में मन नहीं लग रहा था। एक बार पुनः महाराजश्री के पास जाकर प्रायश्चित्त का निवेदन किया। अबकी बार महाराजश्री थोड़ा नाराजगी से बोले- ''कह दिया न क्यों बार-बार आते हो अब तो किसी काम में मन नहीं लगा। मन में छटपटाहट, आकुलता हो रही थी। मन की वेदना मुख पर झलक आयी। आचार्यश्री से आँख नहीं मिला पा रहा था। तीसरे दिन ईर्यापथ के बाद प्रत्याख्यान के लिए महाराज के पास गये। वापस होते समय गुरुदेव ने रोका और कहा- 'दो उपवास कर लेना।' मन की व्याकुलता समाप्त हो गयी। तत्काल कायोत्सर्ग कर दो दिन के उपवास का नियम ले लिया। उपवास पुरे करने के बाद आचार्यश्री से पूछा- 'महाराज, मुझे उस दिन प्रायश्चित्त क्यों नहीं दिया था।' उन्होंने कहा- ''मैं यह देखना चाहता था कि प्रायश्चित्त नहीं देने का क्या परिणाम होता है।'' यदि मन में अपने द्वारा किये अपराध, दोष के प्रति शोधन की व्याकुलता है तभी प्रायश्चित्त कार्यकारी होता है। इसलिए प्रायश्चित्त को भीतरी तप के अन्तर्गत माना जाता है।

विनय - अभ्यन्तर तपों में दूसरा तप है- विनय। विनय को मोक्ष का द्वार कहा गया है। विनय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है-

'विलयं नयति कर्ममलं इति विनयः'

अर्थात् जो कर्ममल को विलीन कर दे वह विनय है। विनय तप में कर्मक्षय की क्षमता है। पूज्य पुरुषों के प्रति हार्दिक आदर भाव को विनय कहते हैं। यह आत्मा का आन्तरिक गुण है। विनय से अभिमान गलता है। विनय के विकास के लिए गुणग्राही दृष्टि अपनाना जरूरी है। गुणग्राही व्यक्ति लघु और विनीत होता है। विनीत व्यक्ति सर्वत्र आदर और सम्मान पाता है विनय से जो बढ़ता है। किसी के आगे झुकना सहज नहीं है। वही झुक पाता है जिसका अभिमान गलता हो। विनय गुण का स्वरूप बताते हुए तत्त्वार्थवार्तिक में कहा है-

सम्यग् ज्ञानादिषु मोक्ष साधनेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्य-वृत्या सत्कार-आदरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसंपन्नता।

अर्थात् मोक्ष के साधनभूत सम्यग्ज्ञानादि में, उसके साधक गुरु आदिकों में अपनी योग्य रीति से सत्कार आदर आदि करना तथा कषाय की निवृत्ति करना विनय सम्पन्नता है।

कषाय की निवृत्ति विनयसम्पन्नता का मुख्य लक्षण है। इसी कारण विनय का अभयन्तर तप में समाविष्ट किया गया है। बाहरी दबाव में अपने से बड़े अधिकारी या नेता आदि का बहुमान, विनय तप नहीं है। असली विनय आन्तरिक होती है। जहाँ गुणानुराग पूर्वक नम्रवृत्ति और बहुमान होता है, वहीं कषायों का निग्रह सम्भव है। बनावटी विनय चापलूसी का अंग हो सकता है, विनय तप नहीं। विनय के माहात्म्य को समझते हुए हमें पूज्य पुरुषों के प्रति हार्दिक आदर भाव रखना चाहिए। आगम में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार के भेद से विनय के चार प्रकार बताये गये हैं। ज्ञान की निर्मल आराधना ज्ञान विनय है सम्यग्दर्शन की विशुद्धि दर्शन-विनय कहलाती है। तथा चारित्र और उसके आराधकों के प्रति आदर भाव रखना चारित्र विनय कहलाता है। चारित्र के प्रति अनुराग रखना, चारित्र की बात सुनते ही मन का रोमांचित हो जाना चारित्र विनय का वास्तविक रूप है।

पूज्य पुरुषों को देखकर खड़े हो जाना, उनके पीछे चलना अंजुलि जोड़कर उनकी वन्दना करना आदि उपचार विनय के अंग हैं। पूज्य पुरुषों की आज्ञा में चलना भी उपचार विनय है। हमें अपने गुरुओं की आज्ञा की अवहेलना कतई नहीं करनी चाहिए। गुरु आज्ञा की अबहेलना उनकी अवज्ञा और अविनय है। इसी कारण से गुरुओं की आज्ञा में चलना उपचार विनय कहा गया है। सच्चा शिष्य अपनी प्रत्येक क्रिया को गुरु की आज्ञापूर्वक ही सम्पन्न करता है। वह अत्यन्त अनुनय-विनय पूर्वक गुरु से निवेदन कर उनकी सम्मति क उपरान्त ही कोई भी कार्य प्रारम्भ करता है। जिन कार्यों में बड़ो की सम्मति न हो, उसे कभी नहीं करना चाहिए। आचार्य आदि के समक्ष न रहने पर उनके परोक्ष में उनके प्रति प्रणाम आदि विनयपूर्वक हार्दिक आदर भाव रखना, उनके गुणों का स्तवन करना, उनकी प्रशंसा करना, उनके गुणों को स्मरण करना तथा मन-वचन-काय से

उनके परोक्ष में भी उनकी आज्ञा का पालन करना उपचार विनय है।

आज्ञा का पालन सबसे बड़ी विनय है। आचार्यश्री ने जब हमें पहली बार धर्म प्रभावना के लिए पृथक् रूप से बिहार करने का आदेश दिया तब बिहार करते समय मैंने उनसे कहा- ''गुरुदेव! अब आपकी चरण सेवा का लाभ नहीं मिल सकेगा।'' आचार्यश्री ने कहा- ''गुरु आज्ञा का पालन ही सबसे बड़ी सेवा है।'' जो शिष्य गुरुओं का बहुमान करता है वह जगत् पूज्य बनता है। आचार्यश्री कहतें हैं- गुरु की आज्ञा तो बहुत आगे की बात हुई, उपदेश को भी आदेश मानकर चलना चाहिए।

वैयावृत्य - गुणों के अनुराग पूर्वक संयमी जनों की सेवा सुश्रूषा करना वैयावृत्य कहलाता है। बाल, वृद्ध, युवा, तपस्वी, साधुओं के हाथ-पैर दबाकर, तैल मलकर, आवश्यकतानुसार योग्य औषधि लगाकर, उनकी यात्रा, स्वाध्याय और तपस्याजन्य श्रम के खेद को दूर करना वैयावृत्य तप है। वैयावृत्य का बहुत महत्त्व है। इसे तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण कहा गया है। आप पूजा में नित्य पढ़ते हैं- ''**निशदिन वैयावृत्य करैया सो भवसागर पार तरैया।**''

इसीलिए गृहस्थ तो वैयावृत्य करते ही हैं, मुनिजन भी एक-दूसरे की वैयावृत्य करते हैं। साधुओं की वैयावृत्य करने से निर्मल और सुन्दर शरीर की प्राप्ति होती है। भगवान् बाहुबली ने अपने पूर्व भव में अक मुनिराज की सेवा की थी परिणामतः उन्हें कामदेव का शरीर मिला। वे मोक्ष को प्राप्त किये। साधुओ की वैयावृत्य करने से उनके नजदीक आने का अवसर मिलता है। उनकी साधना की ऊर्जा से अभिभूत होने का सौभाग्य मिलता है। एक-दूसरे के प्रति वात्सल्य भाव की वृद्धि और संघ का संगठन भी मजबूत होता है। आचार्य अकलंक देव ने वैयावृत्य का लाभ बताते हुए कहा है-वैयावृत्य करने से समाधि धारण,ग्लानि पर विजय एवं परस्पर वात्सल्य की भावना प्रकट होती है। आचार्यश्री कुन्दकुन्द ने अपने ''भावप्राभृत'' में वैयावृत्य को जिनभक्ति परक बताते हुए अपनी शक्ति के अनुसार नित्य करने की प्रेरणा दी है। 'भगवती आराधना' में कहा गया है कि- ''समर्थ होते हुए भी जो वैयावृत्य नहीं करता वह धर्मभ्रष्ट है।'' जिनाज्ञा का भंग, शास्त्र कथित धर्म का नाश अथवा साधुवर्ग व आगम का त्याग ऐसे महादोष वैयावृत्य की उपेक्षा करने से प्रकट होते हैं। अतः नित्य हमें वैयावृत्य करना

चाहिए।

वैयावृत्य विवेक पूर्वक करना चाहिए। कभी-कभी श्रावकों के अविवेक के कारण उनकी अतिभक्ति में अनर्थ घटित हो जाते हैं। अनन्तकीर्ति नाम के एक महाराज हुए है। वे दक्षिण के थें। उनके मन में स्वाध्याय की गहरी रुचि थी, दक्षिण में स्वाध्याय की अनुकूलता नहीं थी। उन्हें पता चला कि मध्यप्रदेश में मुरैना नामक एक शहर में एक बड़ा विद्यालय है, वहाँ बड़े-बड़े विद्वान् है, वहाँ जाकर मैं अध्ययन कर सकता हूँ। उस समय साधुओं का बिहार बड़ा कष्टप्रद था। दिगम्बर रूप में विवरण करना बड़ा कठिन था। अपने विद्यानुराग के कारण वे ट्रेन से मुरैना आ गए, यह सोचकर कि पुनः प्रायश्चित्त कर लेंगे। वे बड़े तपस्वी थे, ठण्ड के दिनों में चटाई तक नहीं लेते थे। उनकी साधना से सभी विद्वान् प्रभावित थे। एक बार कड़ाके की ठण्ड थी। महाराजजी अपने कक्ष में लेटे हुए थे कि किसी श्रद्धालु ने उनके आसन के बगल में एक अंगीठी रख दी, ताकि कक्ष में गर्मी बनी रहे। कमरा बन्द था। अचानक उनका एक पैर उस पर पड़ गया, वे उसे उपसर्ग मानकर अविचलित पड़े रहे। माँस जलने की गंध पाकर लोग वहाँ पहुँचे। लोगों ने देखा तो सभी को बड़ी पीड़ा हुई। सभी ने उपचार के लिए पट्टी बँधवाने को कहा; पर महाराज ने अस्वीकार कर दिया। उसी स्थिति में उनका स्वर्गवास हो गया।

स्वाध्याय - आलस्य के त्याग और ज्ञान की आराधना को स्वाध्याय कहते हैं। स्वाध्याय मन की खुराक है। आचार्य कहते हैं मन बन्दर की तरह चंचल है। जैसे चंचल बन्दर फलदार वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं में रमा रहता है वैसे ही अपने चंचल मन को श्रुतज्ञान रूपी वृक्ष में रमाकर रखना चाहिए। शास्त्रों को सूत्र भी कहते हैं। सूत्र का एक अर्थ धागा है। आचार्य कुन्द-कुन्द कहते हैं जैसे धागा सहित सुई कभी गुमती नहीं है वैसे ही सूत्र (शास्त्र) सहित आत्मा संसार में कभी भटकती नहीं है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को नित्य प्रति स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय का उद्देश्य पाण्डित्य की प्राप्ति नहीं, परिणामों की निर्मलता है। स्वाध्याय करते हुए अपने परिणामों की विशुद्धि पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। पांडित्य की प्राप्ति शब्द ज्ञान है। केवल शब्द ज्ञान कार्यकारी नहीं होता। वही ज्ञान सार्थक है जो जीवन में उतरे। स्वाध्याय का अर्थ मात्र ग्रन्थों का

अध्ययन नहीं है। स्वाध्याय का असली अर्थ-स्व का अध्ययन है। स्व के अध्ययन नहीं है। स्व के अध्ययन का मतलब अपने परिणामों का अन्तर्विश्लेषण करना चाहिए। इससे भावों की विशुद्धि और कर्मों की निर्जरा होती है। स्वयं का अन्तर्विश्लेषण चित्तशुद्धि का अनुपम आधार है। स्वाध्याय करने से ज्ञान बढ़ता है, वैराग्य बढ़ता है एवं तप में वृद्धि होती है। मन को स्थिर रखने का स्वाध्याय से सरल उपाय और कोई नहीं है। इसीलिए स्वाध्याय को परम तप बताते हुए कहा है-

ण वि अत्थि ण विय होहिदि सज्झाय समं तवो कम्मं।

स्वाध्याय से बड़ा कोई तप नहीं है।

कायोत्सर्ग - शरीर से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग तप है। शरीर के ममत्व को त्यागकर आत्मकेन्द्रित होना ही कायोत्सर्ग का लक्ष्य है। देहात्म बोध से ऊपर उठकर अन्तर्मुखता को बढ़ाना इसका प्रमुख साध्य है बड़े-बड़े तपस्वी मुनिजन कायोत्सर्ग तप के द्वारा ''काया का उत्सर्ग'' अर्थात् शरीर में रहते हुए भी शरीर से ऊपर उठ जाते हैं। कायोत्सर्ग तप का लक्षण बताते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है-

जल्ल मल्ल लित्त गत्तो दुस्सह वाहीसु णिप्पडियारो।
मुह धोअणादि विरओ भोयण सेज्जादि णिरवेखो।।
ससरुब चिंतण रओ दुज्जण सुयणाण जो हु मज्झत्थो।
दे हे वि णिम्मत्तो कायोसग्गो तओ तस्स।।

जिस मुनि का शरीर जल और मल से लिप्त है, जो दुस्सह रोग के हो जाने पर भी उसका प्रतिकार न करता हो, मुख धोना आदि शरीर के संस्कार से उदासीन हो, भोजन, शय्या आदि की अपेक्षा नहीं करता हो तथा अपने स्वरूप के चिन्तन में ही लीन रहता हो। दुर्जन और सज्जन में माध्यस्थ हो और शरीर से भी ममत्व न करता हो। उस मुनि के कायोत्सर्ग नाम का तप होता है।

कायोत्सर्ग तप के धारी मुनिराज अपने भेद विज्ञान की भावना के बल पर बड़े से बड़े रोग का भी प्रतिकार नहीं करते। आचार्य शांतिसागर महाराज के शिष्य आचार्य नेमिसागर जी हुए हैं। वे बड़े तपस्वी थे। उनकी कायोत्सर्ग की बड़ी गहरी

साधना थी। वे पद्मासन लगाकर, दोनों घुटनो के बल खड़े होकर घंटो ध्यान किया करते थे। एक बार उन्हें निमोनिया हो गया। पूरा शरीर ज्वर से तप रहा था। ठण्ड का मौसम था। आकाश में बादल छाये थे। डॉक्टरों ने उन्हें चटाई ओढ़कर भीतर रहने की सलाह दी। महाराज ने किसी की एक नहीं सुनी। वे बाहर आकर खुली हवा में कायोत्सर्ग में बैठ गये। इधर महाराजश्री बैठे ही थे कि तेज वर्षा होने लगी। सभी लोग घबरा उठे। घबराहट स्वाभाविक थी, पर महाराजश्री से कुछ कह पाने की किसी की भी हिम्मत नहीं हुई। ढाई घण्टे तक वर्षा होती रही और महाराजश्री अविचलित रूप से कायोत्सर्ग में लीन रहे। वर्षा रुक जाने के बाद महाराजश्री कायोत्सर्ग से काया में लौटे। लोगों ने महाराजश्री के शरीर का स्पर्श करके देखा, उनका ज्वर उतर चुका था। उनके शरीर में निमोनिया का कोई लक्षण भी नहीं बचा था। सभी आश्चर्य चकित थे। सभी के मुख से एक ही बात निकल रही थी कि महाराजश्री ने अपने कायोत्सर्ग से कर्मों की निर्जरा कर ली। यथार्थतः कायोत्सर्ग महातप है। बड़े-बड़े साधक चार-चार माह तक एक ही स्थान पर रहकर कायोत्सर्ग की साधना करते हैं। इसके करने से निमर्मता और निःसंगता आती है। मन हल्का होता है तथा आशा, तृष्णा पर विजय प्राप्त होती है।

ध्यान - चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। किसी एक विषय का आश्रय लेकर चित्त का उसी में लीन हो जाना ध्यान है। ध्यान, चेतना के रूपान्तरण का सबसे श्रेष्ठ साधन है। सभी साधनाओं में ध्यान को विशेष महत्त्व दिया गया है। ध्यान की साधना के लिए गहरे अभ्यास और अनुभव की आवश्यकता है। प्राथमिक भूमिका में अशुभ विकल्पों से हटकर शुभ में रमना ही ध्यान माना जाता है। मन्त्रों का जाप, भावनाओं का चिन्तन भी ध्यान में सहायक है।

रागद्वेष से ऊपर उठकर आत्म केन्द्रित होना भी ध्यान का साध्य है। यह लम्बे अभ्यास से ही सम्पन्न होता है। ध्यान के अभ्यास के लिए कहा गया है-

मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठअत्थेसु।
थिरमिच्छह जई चित्तं विचित्तज्झाणप्पसिद्धीए।।48।। द्रव्य संग्रह

अर्थात् ''हे भव्य जनों! यदि तुम परम ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त

को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में राग, द्वेष और मोह मत करो।''

राग, द्वेष और मोह पर विजय का अभ्यास ध्यान की स्थिरता में सहायक है। आज ध्यान की अनेक पद्धतियाँ चल रहीं हैं। बड़े-बड़े ध्यान केन्द्र खोले जा रहे हैं। आचार्यश्री कहते हैं-

ध्यान की बात करना
और
ध्यान से बात करना
दोनों एक नहीं है,
ध्यान के केन्द्र खोलने मात्र से
ध्यान में केन्द्रित होना सम्भव नहीं। 'मूकमाटी'

बन्धुओं! हम मात्र ध्यान की बात ही न करें, उसकी साधना में उतरने की कोशिश करें। वीतरागता को साध्य मानकर आसक्ति को घटाने का प्रयत्न करें, तभी ध्यान की सिद्धि सम्भव है।

प्रायः लोग यह पूछा करते हैं कि महाराज ऐसा तप आप लोग कैसे कर लेते हैं? बारह तपों की बात तो बहुत आगे की है, साधारण मनुष्यों को दिगम्बर मुनि की सामान्य चर्या ही बड़ी तपस्या दिखती है। मैं लोगों को कहता हूँ कि मनुष्य में अनन्त क्षमताएँ हैं। मोहाभिभूत प्राणी उन्हें अभिव्यक्त नहीं कर पाता। मोह के शमन होते ही आत्मशक्तियाँ अभिव्यक्त होने लगती हैं। मोह के शमन के लिए आत्मा अपेक्षित है। आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि ज्ञान और वैराग्य की है। ज्ञान, वैराग्य सम्पन्न योगियों को यह संसार दुखमय प्रतीत होता है। वे जीवन को जल के बुलबुले के समान और संसार की विभूतियों को बिजली के समान चंचल मानते हैं। वे तप के समक्ष आगत कष्टों को समता पूर्वक सहन करते हैं। ज्ञानी जीव प्रतिकूलताओं से घबराते नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं-

जह कणयमग्गि तवियं पि कणय सहावं ण तं परिच्चयदि।
तह कम्मोदय तविदो णाणी ण जहदि दु णाणित्तं।।

जैसे स्वर्ण अग्नि द्वारा तपाये जाने पर भी अपने स्वर्णपने को नहीं छोड़ता

अपितु उसमें और अधिक निखार आ जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी कर्मोदय से तपाये जाने पर भी अपने ज्ञानीपन को नहीं छोड़ते। वे अपनी साधना से विचलित नहीं होते। इसी भेद विज्ञान के बल पर पाँचों पाण्डव मुनिराज शरीर पर तपाये हुए लोहे के आभूषण पहनाये जाने पर भी अपनी समता से विचलित नहीं हुए। सुकुमाल मुनि श्रृगालनी द्वारा खाये जाने पर भी अविचलित रहे। सन्त कहते हैं, कि-

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकं।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकं।।

जो शरीर के लिए उपकारी है वह आत्मा का अपकारक है तथा जो आत्मा के लिए उपकारी है वह शरीर की नश्वरता को जान जाने के कारण उसका नजरिया ही बदल जाता है। साधारण व्यक्ति को तपस्वी के तप में कष्ट दिखता है पर तपस्वी योगी तो उसे कष्ट की स्थिति में आनन्द मग्न रहता है। कष्ट उसे लगता ही नहीं। तपस्वी योगियों के नजरिये को रेखांकित करती हैं ये पंक्तियाँ-

''आप हर मंजिल को मुश्किल समझते हैं
हम हर मुश्किल को मंजिल समझते हैं।
बड़ा फर्क है हमारे आपके नजरिये में,
आप दिल को दर्द और हम दर्द को दिल समझते हैं।''

देता दौलत ना घटे

भोजन करें और मल विसर्जन न हो तो पीड़ा होगी। श्वास लें और बाहर न निकले तो घुटन होगी। भोजन किया है तो मल विसर्जन भी अनिवार्य है। श्वास को ग्रहण करना जितना जरूरी है, उसे छोड़ना भी उतना ही अनिवार्य है। अर्जन और विसर्जन, ग्रहण और त्याग प्रकृति का शाश्वत नियम है। यहाँ ग्रहण है वहाँ त्याग अनिवार्य है। पूरी प्रकृति ग्रहण और त्याग का उदाहरण है। बादल समुद्र से जल सोखते हैं, संग्रह होता है, अपने पास नहीं रखते, बरसा देते हैं, यह त्याग है। यदि समुद्र बादलों को अपना जल न दे तो वह नदियों के द्वारा अनन्त जल राशि प्राप्त नहीं कर सकता। पेड़ धरती से उसका रस ग्रहण करते हैं, उसे फल के रूप में सबको लौटा देते हैं। गाय घास खाती है और दूध बनाकर हम सबको देती है। सारी प्रकृति का यही संदेश है, यदि तुमने ग्रहण किया है तो उसके साथ त्याग भी करो। एक बड़ा सुन्दर रूपक है-

धरती ने वृक्ष से कहा- ''मैं तुम्हें रस प्रदान करती हूँ, उसे तुम यूँ ही बर्बाद क्यों कर देते हो, उसे तुम अपने पास रखा करो, किसी को दिया मत करो।'' वृक्ष बोला - ''नहीं माँ! मैं ऐसा नहीं कर सकता। मैं देता हूँ, तभी फलता हूँ। देने में ही मुझे शान्ति मिलती है।'' वृक्ष ने धरती की बात को अनसुना कर अपना सर्वस्व लुटाना शुरू कर दिया। उसने अपने फूल दिये, फल दिये, पत्ते दिये, पक्षियों को बसेरा दिया और पथिकों को छाया दी। धरती उससे रूठ गयी। पतझड़ आया उसके सारे पत्ते सूखकर झड़ गये। उसकी सारी शोभा-सुषमा समाप्त हो गयी। श्री शोभा विहीन वृक्ष को समझाते हुए धरती ने फिर से कहा- देखो अपनी हालत, अब भी देना बन्द कर दो। वृक्ष ने धरती से विनम्रतापूर्वक कहा- माँ मैं चाहता हूँ कि अपनी श्वास तक दूसरों के काम आऊँ। यदि इस क्षण भी मेरी सूखी लकड़ियाँ दूसरों के काम आ सके तो मुझे अपार संतोष होगा। वृक्ष की उदारता से धरती प्रसन्न हो गयी- बसन्त आया, वृक्ष फिर से फूल-फलों से लद गया। उसकी शोभा पहले से कई गुनी बढ़ गयी।

एक बार हिमालय ने गंगा का नीचे उतरने से रोकते हुए कहा- ''तुम

यहीं रहो, आगे न बढ़ो, अपना जल यूँ ही न लुटाओं।'' गंगा ने विनम्रता से कहा– ''मेरा जन्म तो लोककल्याण के लिए ही हुआ है। मैं यहाँ नहीं ठहर सकती।'' गंगा वहाँ से निकली और प्यासी धरती, सूखी खेती तथा व्याकुल जीव जन्तुओं को अपना शीतल जल लुटाते हुए आगे बढ़ चली। हिमालय का हृदय स्वतः द्रवीभूत हो उठा। उसने उन्मुक्त भाव से अपना जल उड़ेलना शुरू कर दिया। गंगा जितनी गंगोत्री में थी, उससे हजार गुनी होकर गंगासागर में जा मिली।

प्रकृति का यह नियम है कि जो निरन्तर देता है, वह निर्बाध प्राप्त भी करता है। आज का दिया हुआ कल हजार गुना होकर लौटता है। अगर तुम कुछ प्राप्त करना चाहते हो, तो देने को तैयार हो जाओ। देने में आनंद है। जो देता है, वह उससे अनेक गुना पाता है। त्याग धर्म के सम्बन्ध में उक्त दोनों रूपक बहुत अधिक प्रासंगिक हैं।

त्याग धर्म की शास्त्रों में दो प्रकार की व्याख्या मिलती है। मुनियों की अपेक्षा परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहा गया है तथा गृहस्थों की अपेक्षा त्याग का अर्थ दान लिया गया है। मुनि सर्वस्व के त्यागी होते हैं, वे धन परिग्रह की आसक्ति से रहित अपरिग्रही जीवन जीते हैं। गृहस्थ के लिए सर्वस्व का त्याग सम्भव नहीं है, उसके लिए अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार दान देने की प्रेरणा दी गयी है। दान का स्वरूप बताते हुए आचार्य उमास्वामी ने कहा है–

''अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्''

स्व–पर के अनुग्रह के लिए अपने धन का त्याग करना दान है। मनुष्य परिश्रम पूर्वक धन अर्जन करता है, अतः उसके प्रति लगाव भी स्वाभाविक है। वह उसके संरक्षण और सम्वर्धन का भी प्रयत्न करता है। सन्त कहते हैं धन का अर्जन बुरा नहीं है, परन्तु अर्जन के साथ–साथ उसका सम्यक् उपयोग भी होना चाहिए। धन तो नदी प्रवाह की भांति है नदी जल का बहकर समुद्र में मिल जाता है, उसी नदी के जल को बाँध द्वारा रोककर रेगिस्तानों में भी हरियाली फैलाई जा सकती है। धन का संग्रह बुरा नहीं है, पर उसका एक ही जगह रुका रहना खतरे से खाली नहीं है। बाँध के अभाव में नदी का जल ठहरता नहीं है तथा बांध के द्वारा जल को रोकने के बाद यदि उसे छोड़ा न जाए तो भी खतरनाक स्थिति

निर्मित हो जाती है। अतः अपने द्वारा संग्रहित धन को जनकल्याण में लगाना चाहिए। धन को जल की तरह कहा गया है। जल की गति सदैव नीचे की ओर होती है, अतः धन भी उसी जगह लगाना चाहिए जहाँ उसकी आवश्यकता है। धन की प्राप्ति सरल है, पर उसका सदुपयोग बहुत कठिन है। सुरा और सुन्दरी के चक्कर में अपने धन को बहाने वाले लोगों की आज कमी नहीं है, परन्तु मानवता की सेवा में, धर्म, संस्कृति, देश और समाज के उत्थान में अपने धन को लगाने वाले लोग बहुत विरले हैं। इसीलिए आचार्य महाराज ने ठीक ही लिखा है– ''धन की प्राप्ति तो पुण्य का योग हो सकता है, परन्तु उसका सदुपयोग तप का फल है।''

सम्पत्ति शाश्वत नहीं है। कोई चाहे जितना भी धन का संग्रह करे सुई की नोंक बराबर सम्पत्ति भी उसके साथ नहीं जाती। जिसके पीछे मनुष्य रात की नींद और दिन का चैन खोता है, वह उसके काम नहीं आती। सिकन्दर जैसे सम्राट की सम्पदा भी उसके साथ नहीं गई। चक्रवर्ती का वैभव भी उसके साथ नहीं जाता, सबका सब यहीं छूट जाता है। धन किसी के पास स्थाई रूप से नहीं ठहरता। इसीलिए सम्पदा को वेश्या और कीर्ति को कुँवारी कहा गया है। सम्पदा वेश्या के समान है, क्योंकि वह किसी एक पति के पास नहीं रहती, वह रोज अपने पति बदलती रहती है। और कीर्ति कुँवारी है, क्योंकि कीर्ति जिसे चाहती है, वे कीर्ति को नहीं चाहते तथा जो कीर्ति को चाहते हैं, उसे कीर्ति नहीं चाहती। इसीलिए कीर्ति आज तक कुँवारी बनी हुई है। धन सम्पदा चंचल है, उसे समझें कि वो जाने वाली है। अपने कभी विचार किया कि लक्ष्मी की मूर्ति जहाँ कहीं भी विराजमान होती है प्रायः खड़ी दिखाई पड़ती है। कहीं आपको लक्ष्मी की मूर्ति बैठी दिखाई पड़ी? एक भी मूर्ति बैठी दिखाई नहीं दी होगी। यह इस बात का प्रतीक है कि लक्ष्मी हमेशा जाने को तैयार खड़ी है। वो कभी बैठना नहीं चाहती। जो इस रहस्य को जान लेते हैं वे अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करते हैं। आज तक का यह इतिहास रहा है कि सम्पदा कभी किसी की नहीं रही। वो नित्य अपने स्वामी बदलते रहती है। कभी किसी एक के पास नहीं रहती। सम्पदा के धारक ने भले ही उसे न छोड़ा हो, पर सम्पदा ने तो उसे छोड़ ही दिया है। तुम छोड़ो या ने छोड़ो, सम्पदा तो छूटने ही वाली है। छूटने और छोड़ने में बड़ा अन्तर है। तुम

अपने आप छोड़ोगे तो सुख मिलेगा अन्यथा मौत छुड़ा लेगी। कोई चीज जब हमसे छुड़ाई जाती है तब तकलीफ होती है, छोड़ते हैं तो प्रसन्नता होती है। अपनी जेब से किसी को सौ रुपये का नोट देते हैं, मन में हर्ष होता है कि मैंने आज एक पीड़ित की मदद की है। लेकिन यदि जेब से दस रुपये भी गिर जाए तो सारे दिन तकलीफ होती है कि आज दस रुपये गुम गये। आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने छोड़ने और छूटने का बड़ा अच्छा विश्लेषण किया है। वे कहते हैं- छोड़ने और छूटने में उतना ही अन्तर है जितना शौच और उल्टी में। प्रायः शौच के उपरान्त बड़ी ताजगी, स्फूर्ति और फ्रेशनेश महसूस करते हैं, क्योंकि हम छोड़कर आये हैं, लेकिन जब हमें उल्टी होती है तो जी मचलाता है। छूटना उल्टी जैसी स्थिति है और छोड़ना शौचकर तरोताज होने की स्थिति है। छोड़ने से जीवन में पवित्रता आती हैं, छूटने से नहीं। अतः धन का सदुपयोग करें। अंग्रेजी विचारक ने ठीक कहा है-

Walth is not his that has it but his that enjoys it.

''धन उसका नहीं है जिसके पास वह है, अपितु उसका ही धन सार्थक होता है जो उसका सदुपयोग करता है।''

अर्जित धन का उपभोग और बचे का दान ही धन का सच्चा उपयोग है। दान से जीवन का कल्याण होता है। नदियों का जल मीठा होता है और समुद्र का जल खारा। आपने विचार किया कि ऐसा क्यों होता है? ऐसा सिर्फ इसलिए होता है कि नदियाँ अपने पास कुछ नहीं रखती, सब कुछ बाँट देती हैं और समुद्र सारा जल अपने पास ही संग्रहित रखता है। जहाँ वितरण है वहाँ मिठास है, जहाँ संग्रह है वहाँ खारापन है। दान जीवन में मिठास भरता है और संग्रह जीवन को खारा बनाता है। पर क्या बताएँ आज के मनुष्य की रुचि संग्रह में अधिक है, दान में कम। दान के नाम उसके प्राण निकलते हैं।

एक बड़ा कंजूस सेठ था। अपार धन सम्पदा का स्वामी होने के बाद भी वह धर्म-कर्म से दूर रहा करता था। उसकी पत्नी बड़ी धर्मपरायण थी। एक बार नगर में किसी पहुँचे हुए सन्त का आगमन हुआ। पूरे नगर में उनके प्रवचनों की घूम थी। पत्नी ने सोचा कि यदि मेरे पतिदेव किसी भी प्रकार से प्रवचन सुन लें तो

निश्चित रूप से प्रभावित होंगे। पत्नी के आग्रह पर वह प्रवचन सुनने तैयार हो गया। वह अपनी पत्नी के साथ प्रवचन सभा में पहुँचा। सन्त का दान पर बड़ा प्रभावी प्रवचन हुआ। पति की भाव-भंगिमा को देखकर पत्नी मन ही मन हर्षित हुई। प्रवचनोपरान्त प्रवचन की प्रतिक्रिया जानने की आतुरता में पत्नी ने पति से पूछा- ''कैसा लगा आज का प्रवचन?''

''बहुत अच्छा'', पति ने जबाव दिया।

''अब क्या विचार है आपका?'' पत्नी ने पूछा।

पति ने कहा - ''आज के प्रवचन से मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि दान से अच्छा कोई धर्म नहीं है। अतः कल से मैं दान माँगने का महान् कार्य प्रारम्भ कर लोगों को इस महान् पुण्य के अर्जन का अवसर देना चाहता हूँ।''

ऐसे लोगों के लिए क्या कहें। धन ही जिनके जीवन का अन्तिम साध्य है वे जीवनपर्यन्त धन जोड़ते रहते हैं और अन्त में सब कुछ यहीं छोड़कर चले जाते हैं। व्यक्ति चाहे कितना भी सम्पन्न क्यों न हो वह यदि अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करना नहीं जानता तो उससे बड़ा अभागा इस संसार में कोई दूसरा नहीं है। कृपणता कंगाली की पहिचान है। ऐसे लोग पूरे जीवन धन की चिन्ता में पड़कर अपने वर्तमान भव का सुख तो खोते ही हैं, धन की तीव्र आसक्ति के कारण वे भवान्तरों में भी दुःख भोगते हैं। शास्त्रों में एक बड़ा प्रेरक प्रसंग है -

एक राजा था। अपार धन सम्पदा का स्वामी होने के बावजूद वह नित्य ही प्रजा का शोषण कर अपना राजकोष बढ़ाने में लगा रहता था। पूरे जीवन धन का संग्रह करते हुए एक दिन राजा मरा। राजा की मृत्यु के बाद उसके इकलौते पुत्र ने संग्रह करते हुए एक दिन राजा मरा। राजा की मृत्यु के बाद उसके इकलौते पुत्र राज्य की बागडोर सम्भाली। पुत्र बड़ा दयालु और प्रजावत्सल था। पिता की मृत्यु के बाद उसने एक बड़ा विधान (यज्ञ) रचवाया। याचकों को किमिच्छिक दान देने की घोषणा कर दी। दान दिया जाने लगा। दान देने के लिए राजकोष से धन निकालने की आवश्यकता पड़ी। खजाँची हक्का-बक्का रह गया। राजकोष में एक भयंकर विषधर अपना फन फैलाए आक्रामक मुद्रा में बैठा हुआ था। वह उल्टे पाँव लौट गया। राजा को घटना सुनाई। राजा को विश्वास नहीं हुआ। उसने

अपने मन्त्री को भेजा। मन्त्री को भी वही दृश्य दिखाई पड़ा। बड़ी उलझनपूर्ण स्थिति बन गई। राजकोष से धन निकाले बिना याचकों को दान नहीं दिया जा सकता और सर्प को हटाये बिना राजकोष से धन निकाला नहीं जा सकता। अबकी बार राजा स्वयं गया। राजा ने अपनी आँखों से देखा, राजकोष में सर्प बैठा था। पर अबकी बार राजा उसकी मुद्रा बदली हुई थी। राजा को देखते ही सर्प एक ओर खिसककर शान्त मुद्रा में स्थिर हो गया था। राजा ने स्वयं अपने हाथों से धन निकाला और याचकों को दान दिया। पर उसके मन में प्रश्न उठ गया कि आखिर यह सर्पराज कोष में आया कैसे? फिर खजाँची और मन्त्री को धन क्यों नहीं लेने दिया? मेरे सामने क्यों हट गया? क्या मेरे मन्त्री और खजाँची ईमानदार नहीं हैं? ऐसे अनेक प्रश्न राजा के मन में घूमने लगे।

संयोगत: उसके यहाँ एक अवधिज्ञानी मुनिराज का आगमन हुआ। राजा ने सारी घटना को सुनाते हुए अपनी समस्या रखी। मुनिराज ने अपने ज्ञान से जानकर कहा कि- राजन्! संसार की यही विचित्रता है, तुम्हारे राजकोष में बैठा सर्प और कोई नहीं तुम्हारा पिता है, जो पूरे जीवन तीव्र धनासक्ति पूर्वक धन जोड़ता रहा और आसक्ति के साथ मरने के कारण राजकोष में सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ है। आज भी उसका तुम्हारे प्रति अनुराग बना हुआ है। इसीलिए तुम्हारे सामने आने पर वह एक ओर हट गया तथा खजाँची और मन्त्री को धन नहीं लेने दिया।''

मुनिराज की बात सुनकर राजा का मन संसार से विरक्त हो गया। उसने मुनिराज से पूछा कि उस सर्प के उद्धार का कोई उपाय है। मुनिराज ने कहा- ''कि यदि तुम उसे जाकर सम्बोध दो तो उसकी मति बदल सकती है।''

राजा राजकोष में गया और सर्प को सम्बोधते हुए कहा- हे सर्पराज! धिक्कार है तुम्हें, जो अपनी धनासक्ति के कारण आज राजा से सर्प बनें हो। अभी भी तुम्हारी धनासक्ति बनी हुई है। यदि तुम इस आसक्ति को नहीं छोड़ोगे तो तुम्हें भव-भवोन्तरों में दुख भोगना पड़ेगा।''

राजा के मर्मस्पर्शी उद्‌बोधन से साँप को जातिस्मरण हो गया। उसे अपने पूर्वभव की स्मृति हो आई। उसने अपना आत्म कल्याण कर लिया।

बन्धुओं, इस प्रसंग से मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि धन की तीव्र आसक्ति से बचो। धन का संग्रह मात्र संग्रह के लिए नहीं करें, अपितु संग्रहीत धन का योग्य अवसर पर सदुपयोग करना सीखें। जो मात्र संग्रह करते हैं उनकी स्थिति उक्त राजा के समान ही होती है। आज भी जब कभी यह सुनने को मिलता है कि बड़े-बड़े सेठों के तहखाने के खजाने में सर्प है, वह और कोई नहीं वही लोग हैं जिन्होंने पूरे जीवन धन जोड़ा। वे मृत्यु के बाद उसी धन पर जा बैठे हैं। सन्त कहते हैं- सम्पत्ति नाशवान है, वह स्थिर नहीं रहती, अतः उसका सदुपयोग करें। सम्पत्ति का मात्र संशय, सम्पत्ति का दुरुपयोग है। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है-

जो पुण लच्छिं संचदि ण य भुजंदि ण यह देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचदि मणुयत्तं णिप्फलं तस्स।।3।।
जो संचिऊण लच्छिं धरणियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तं लच्छिं पाहाण समाणियं कुणदि।।4।।

अर्थात् जो सम्पत्ति का संग्रह कर न तो उसका उपभोग करता है और न ही सत्पात्रों को दान देता है, वह बहुत बड़ी आत्मवंचना करता है, उसका मनुष्यत्व निष्फल है। जो पुरुष परिश्रम पूर्वक धन अर्जित करके उसे धरती के नीचे गाड़कर रखते हैं, वह अपनी सम्पत्ति को पाषाण के समान बना रहे हैं।

वस्तुतः सम्पत्ति को गाड़ने की जरूरत ही नहीं है, अपने पुण्य को गाढ़ा बनाने की आवश्यकता है। धन सम्पत्ति और सम्पन्नता पुण्य के योग से मिलती है। कोई कितना भी सुरक्षित रखने का प्रयत्न करे, पुण्य के योग रहने तक ही इनका टिकाव होता है। पुण्य के क्षीण होते ही ये सब नष्ट हो जाते हैं। कई बार सुनने को मिलता है कि किसी ने अपनी गाडी हुई सम्पत्ति को निकालने के लिए गड्ढा खोदा तो देखा कि वहाँ कुछ है ही नहीं । उसकी सम्पत्ति भीतर ही भीतर कहीं और खिसक गई अथवा सम्पत्ति कोयला बन गई। पुण्य के खिसकते ही सम्पत्ति खिसक जाती है। यदि तुम्हारा पुण्य योग प्रबल है तो सम्पत्ति को गाड़ने की भी आवश्यकता नहीं है, वह तुम्हारे साथ बनी रहेगी। और पुण्य क्षीण हो जाने के बाद कोई लाख प्रयत्न करे वह उस सम्पत्ति का उपभोग नहीं कर सकता। सम्पत्ति

का क्या भरोसा? कई-कई बार हम सुनते हैं, देखते भी हैं, बड़े-बड़े करोड़पति भी एक ही रात में रोड़पति बन जाते हैं। इसलिए सम्पत्ति की नश्वरता को समझकर उस सत्कार्य में लगाने का प्रयत्न करें। आचार्य कहते हैं-

ता भुंजिज्जउ लच्छी दिज्जउ दाणे दया पहाणेण।
जा जल तरंग चवला दो तिण्णि दिणाणि चिट्ठेई ।।

सम्पत्ति नाशवान् है यह जानकर उसका उपयोग करना चाहिए और दया की भावना से उसका दान करना चाहिए। क्योंकि सम्पत्ति तो जल के तरंग की तरह चंचल है। वह मात्र दो तीन दिन ही ठहरती है। संस्कृत में एक सूक्ति है- **''अभोगस्य हतं धनम्''** जो अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं करता उसका धन नष्ट हो जाता है। कहते हैं कि मिस्र का राजा कारुँ के पास अपार सम्पदा थी। कारुँ को इस धरती का धन कुबेर कहा जाता था। एक बार उसके राज्य में भयंकर अकाल पड़ा। जनता ने कारुँ से सहयोग की माँग की। कारुँ ने किसी को कुछ भी नहीं दिया। संयोगतः कुछ समय बाद नील नदी में भीषण बाढ़ आई। उसकी सारी सम्पत्ति बह गई। सदुपयोग न करने पर यही स्थिति होती है। धन की तीन गति कही गई हैं- दान, भोग और नाश। संस्कृत के एक कवि ने बड़ी उत्प्रेरक बात लिखी है-

लक्ष्मी दायादयश्चत्वारः दान राजाग्नि तस्कराः।
ज्येष्ठ पुत्रापमानेन त्रयः कुप्यन्ति बान्धवाः।।

लक्ष्मी के चार पुत्र हैं- दान, राजा, अग्नि और तस्कर। इनमें ज्येष्ठ पुत्र 'दान' का अपमान होने पर शेष तीन कुपित हो जाते हैं। बड़ी सही बात है जो दान की अवहेलना करता है उसकी सारी सम्पत्ति राजसात हो जाती है अथवा अग्नि में स्वाहा हो जाती है या फिर चोर लुटेरे ले जाते हैं। सोच लो, दान प्रसन्न है तो शेष तीन की भी कृपा बनी रहेगी और यदि तुम्हारे घर में दान का अनादर हुआ तो शेष तीन परेशान करेंगे। या तो इन्कमटैक्स वाले छापा मारकर ले जायेंगे या अन्य प्रकार से द्रव्य का नाश हो जायेगा। जिस घर में दान का आदर होता है वहाँ अग्नि का आतंक नहीं होता, उसके यहाँ कभी चोरी नहीं होती। जहाँ दान की परम्परा है वहाँ इन्कमटैक्स का छापा नहीं पड़ता, क्योंकि वहाँ अनैतिक और अनावश्यक

का संग्रह नहीं होता। इसलिए संत कहते हैं अनावश्यक, अनैतिक का संग्रह मत करो और जो संग्रहीत है उसमें से कुछ दान करो। दान करने से मत चुको। दान करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। एक कहावत है– दान करने वाले का दवा नहीं खानी पड़ती। जो दान नहीं देता, मात्र संग्रह करता है उसका पैसा दवाखाने में, डॉक्टर के पास जाता है। दिल्ली के एक प्रसिद्ध डॉक्टर है डी. सी. जैन। वे बड़े सयुक्तिक तरीके से कहते हैं कि जो दान देता है उसे हार्ट अटैक नहीं होता। क्योंकि दान देने से उसकी धन के प्रति आसक्ति घटती है। आसक्ति के घटने से तनाव कम होता है। हाट अटैक में तनाव एक प्रबल कारण है। अतः अपनी शक्ति के अनुसार दान करते रहना चाहिए।

दान को गृहस्थ का मुख्य धर्म निरूपित किया गया है। **'गृही दानेन शोभते'** गृहस्थ की शोभा दान से होती है। धन जीवन की शोभा नहीं है। धन के त्याग से जीवन शोभायमान होता है। तात्त्विक दृष्टि से धन/परिग्रह तो पाप है। परिग्रह का संग्रह पाप का संग्रह है, क्योंकि बिना सावद्य/पाप के धन संग्रहीत किया ही नहीं जा सकता। इसलिए गृहस्थ को अपनी आय का एक निश्चित अंश अनिवार्यतः दान करना चाहिए, क्योंकि दान से ही पाप का प्रक्षालन होता है। चर्चा समाधान नामक ग्रन्थ में अपनी आय के अनुरूप दान देने की प्रेरणा देते हुए तीन प्रकार के दाताओं की चर्चा की गई है–

भागद्वयं कुटुम्बार्थे सञ्चयार्थे तृतीयकं।
तुर्यो यस्य धर्मार्थे तूर्य त्यागी स उत्तमः।
भागद्वयं स्व पुष्यार्थे कोशार्थे तु द्वयं सदा।
पञ्चमं दानाय यो युंक्ते स त्यागी मध्यमो मतः।
स्व स्वस्य यस्तु षड्भागन् परिवाराय योजयति।
त्रीण सञ्चयति दशांसं तु धर्मे त्यागी लघुश्च सः।।

तीन प्रकार के दानी बताये गये हैं। सबसे उत्तम दानी वह है जो अपनी कुल आय के चार हिस्से करता है। उसमें से दो हिस्से करता है। उसमें से दो हिस्से अर्थात् पचास प्रतिशत से अपने और अपने परिवार का भरण पोषण करता है। पच्चीस प्रतिशत आपत्ति के लिए सुरक्षित रखता तथा पच्चीस प्रतिशत का दान

करता है, वह उत्तम दाता कहलाता है। मध्यम दाता के विषय में कहा है कि जो अपनी आय के पाँच हिस्से करता है, उसमें चालीस प्रतिशत अपनी पूँजी/कोश के लिए सुरक्षित रखता है तथा शेष बीस प्रतिशत का दान करता है वह मध्यम दाता है। इसी प्रकार जो अपनी आय के साठ प्रतिशत से अपने और अपने परिवार का काम चलाता है, तीस प्रतिशत को संचित कर अपने कोश में सुरक्षित रखता है तथा दश प्रतिशत का दान करता है, वह जघन्य दाता माना जाता है।

कम से कम अपनी आय के दश प्रतिशत का दान करना ही चाहिए। जो सक्षम होकर भी इस प्रकार से दान नहीं करता वह दानी की श्रेणी में नहीं आता। सन्त कहते है कि यदि तुम्हारी आय कम है तो अपने खर्च में कटौती करो, पर दान से मत चूको, क्योंकि दान से ही समृद्धि मिलती है, दान देने से कभी घटता नहीं है। कहा है-

चिड़ी चोंच भर ले गयी नदी न घटियो नीर।
देता दौलत ना घटे कह गये दास कबीर।।

नदी में जल सतत् प्रवाहित होता रहता है वह असीम जल बहा लाती है तथा सागर की ओर ले जाती है। उस जल राशि से यदि चिड़ियाँ अपनी चोंच से कुछ बूँद ले जाए तो जल में कमी नहीं होती। उसी प्रकार अपनी सम्पत्ति का कुछ अंश दान देने पर उसमें कमी नहीं आती। दान देने का अर्थ पैसे को लुटाना नहीं है, वरन् शुभकर्मों का बीज बोना है। जैसे उर्वरा भूमि पर बोया गया एक छोटा सा बीज भी कालान्तर में एक विशाल वट वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, वैसे ही सत्पात्र को दिया गया थोड़ा सा दान भी महान् फल प्रदान करता है। कुरल काव्य में लिखा है-

''परोपकारी के हाथ का धन उस वृक्ष के समान है जो औषधियों की सामग्री देता है और सदा हरा बना रहता है।''

धन सम्पन्नता की सार्थकता दीन दुखियों की सेवा करने में है। सच्चा धर्मात्मा पुरुष अपनी सम्पत्ति का सदैव सदुपयोग करता है। वह दया से प्रेरित होकर दूसरों की सेवा करता है। कभी किसी को ठुकराता नहीं है। संस्कृत के एक कवि ने बड़ी मार्मिक बात लिखी है-

शिक्ष्यन्ते न हि याचन्ते भिक्षाचाराः गृहे-गृहे।
दीयतां दीयतां नित्यमदातु गतिः इदृशीम्।।

तुम्हारे दरवाजे पर आया हुआ भिखारी तुमसे भीख माँगने नहीं आता है, वह तुम्हें बहुत बड़ी सीख देने आता है, पर तुम बहुत कृपण हो जो उसे ले नहीं पाते। देने को तो तुम भिखारी को दश-बीस पैसे देते हो पर वह तुम्हें दश-बीस लाख भी दे सकता है। कहा भी जाता है-

तुम एक पैसा दोगे वो दस पैसे देगा।
तुम गरीबों की सुनोगे वह तुम्हारी सुनेगा।।

एक के दश मिलते हैं। दश दें या न दें, परन्तु दश लाख की शिक्षा अवश्य देता है। तुम्हारे दरवाजे पर आया हुआ भिखारी कहता है- ''कि भैया! दान दो, जो दान देता यहै उसका कल्याण होता है, जो दान नहीं देता वह मेरी तरह कंगाल बन जाता है।''

बाहरी अमीरी और गरीबी सम्पन्नता और कंगाली का आधार नहीं है। जो जितना कृपण है वह उतना कंगाल है तथा जो जितना उदार है वह उतना सम्पन्न है। संस्कृत में एक सूक्ति है-

''उन्नतं मानसं यस्य, भाग्यं तस्य समुन्नतम्।''

जिसका मन जितना उदार होता है उसका भाग्य उतना ही ऊँचा उठता है। आज के बड़े-बड़े धनपति रात-दिन परिश्रम करके धन जोड़ते रहते हैं, रात-दिन उसकी सुरक्षा में लगे रहते हैं। सही अर्थो में वे लक्ष्मीपति नहीं हैं, वे लक्ष्मी के दास/सेवक हैं। लक्ष्मीपति वह नहीं हैं जिसके पास अपार धन है, अपितु वह है जो अपने धन का सदुपयोग करता है। लक्ष्मी अपने दास की नहीं, स्वामी की सेवा करती है। एक बड़ा प्रेरक प्रसंग है-

एक बहुत बड़ा सेठ था। वह जितना अधिक सम्पन्न था उतना ही उदार था। उसके दरवाजे से कोई भी याचक खाली नहीं लौटता था। पूरे अंचल में उसकी ख्याति थी। पास के ही नगर में एक दूसरा सेठ रहता था। रात-दिन वह अपने धन को बढ़ाने की चिन्ता में लगा रहता था। उसे कोई भी पसंद नहीं करता

था। एक दिन वह पड़ोसी सेठ की ख्याति राज जानने की भावना से उनके पास पहुँचा। सेठ ने आत्मीयता पूर्वक उसका स्वागत किया। दोनों एक ही कक्ष में रात्रि विश्राम कर रहे थे। अचानक मध्य रात्रि में दरवाजे पर आहट हुई। आगन्तुक सेठ ने देखा कि स्वर्ग की अप्सरा के समान सजी-धजी सुन्दरी कक्ष में प्रवेश कर रही है। वह भीतर आई और सेठ के पाँव दबाने लगी। आगन्तुक सेठ को यह अच्छा नहीं लगा। उसने सोचा कि मैं तो इनका इतना सम्मान करता हूँ, सारे अंचल में इनकी इतनी प्रतिष्ठा है और ये इतने चरित्रहीन, रात के बारह बजे इस सुन्दरी से पैर दबवाते हैं! सेठजी आराम से सो रहे थे। सुबह होते ही आगन्तुक सेठ ने कहा कि- ''रात्रि में मैंने जो कुछ देखा वह अच्छा नहीं लगा। आप जैसे चरित्रवान पुरुष के लिए यह बात शोभा नहीं देती।'' सेठ ने कहा- ''क्या करूँ!'' वह मानती नहीं है।''कौन है वह!'' आगन्तुक सेठ ने विस्मय पूर्वक पूछा- ''वह लक्ष्मी है।'' सेठजी ने जबाव दिया।

आगन्तुक सेठ ने कहा- ''वह लक्ष्मी है। आपके चरण दबाती है। प्रतिदिन आती है। धन्य है!'' वह आश्चर्य चकित रह गया। उसने मन ही मन सोचा- ''मैं भी लक्ष्मीपति हूँ। रात-दिन उसकी सेवा करता हूँ, पर मुझे आज तक ऐसा अवसर नहीं मिल सका। हो सकता है मैं दरवाजे बन्द करके सोता हूँ। इसलिए वह लौट जाती हो, आज से मैं भी दरवाजा खोलकर उसकी प्रतीक्षा करूँगा।''

अगले दिन सेठ भी आसन लगाकर बैठ गया। वह दरवाजे खोलकर लक्ष्मी के आने की प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी भी आहट होती तो वह एकदम चौकन्ना हो जाता। कभी-कभी वह आतुरता पूर्वक दरवाजे तक आकर देखता। ठीक मध्यरात्रि में दरवाजे से कोई आकृति आती दिखाई दी। उसने ध्यान से देखा हाथ में खंजर लिए रौद्र आकृति वाली एक देवी दरवाजे पर खड़ी थी। उसे उस देवी ने उसके सिर के बाल पकड़ते हुए कहा- ''मैं लक्ष्मी हूँ।''

''तुम लक्ष्मी हो! तो तुम्हें तो मेरी चरण सेवा करनी चाहिए। क्योंकि मैं लक्ष्मीपति हूँ।'' सेठ ने आश्चर्य पूर्वक पूछा। लक्ष्मी ने कहा- ''तुम मेरे पति नहीं दास हो। मेरा पति वह है जो मेरा सदुपयोग करता है। जो मेरा सदुपयोग करता है

मैं उसकी चरण चेरी बन जाती हूँ और जो मात्र मेरा संचय करता है उसके लिए मेरे हाथ का यह खंजर हैं।''

सन्त कहते हैं धन जड़ है, इस जड़ धन को चेतन के कल्याण में लगाओ। जो व्यक्ति जड़ धन को अपने सिर पर बैठाये रखता है, उसका जीवन जड़ता क्रान्त हो जाता है। धन की आसक्ति मनुष्य को अन्धा बना देती है। उसका विवेक समाप्त हो जाता है। इसीलिए लक्ष्मी की सवारी उल्लू को बनाया गया है। उल्लू एक ऐसा प्राणी है जो अन्धकार में जीता है, प्रकाश को वह देख नहीं सकता। जो लक्ष्मी को अपने सिर पर बैठाते हैं, धन उनके जीवन में अन्धकार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर पाता। अतः धन लक्ष्मी को सिर पर नहीं, उसे चरणों में रखें। आचार्यश्री ने कहा है- ''जन और जिन में इतनाही अन्तर है कि एक वैभव को अपने सिर पर बैठाए है और दूसरा वैभव के सिर पर बैठा है।''

गृहस्थ के लिए धन के संग्रह का निषेध नहीं किया गया है। धन का संग्रह करें, पर योग्य अवसर पर उसका सदुपयोग करें। कुरल काव्य में लिखा है-

''योग्य पुरुष अपने हाथों परिश्रम करके जो धन जमा करते हैं वह सब जीव मात्र के उपकार के लिए ही होता है।''

जैन परम्परा में ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं जिन्होंने अपरिग्रह के आदर्श का आत्मसात को अपनी सम्पत्ति को जन कल्याण में समर्पित किया है। ऐसे ही महापुरुषों में एक थे जगडूशाह जो अपनी दानशीलता के कारण जैन समाज के गौरव बन बैठे।

बात गुजरात की है। एक बार वहाँ भयंकर दुष्काल पड़ा, जनता दाने-दाने के लिए मोहताज हो गयी। राजा के भण्डार में अन्न नहीं बचा। राजा को अपने गुप्तचरों से मालूम पड़ा कि सेठ जगडूशाह के पास अपार अनाज है और उसने अनेक सदाव्रत खोल रखे हैं, जिससे लोगों को अनाज मिल रहा है। राजा जगडूशाह की दान शीलता से प्रभावित था। उसने अपने दीवान को जगडूशाह के पास भेजा कि ''राज भण्डार में अन्न में अन्न की कमी है। जनता के लिए आनाज की आवश्यकता है, आप कुछ अनाज उधार के रूप में दे दें। सुकाल आने पर वापस लौटा देंगे।'' जैसे ही दीवान ने जगडूशाह के पास राजा का उक्त प्रस्ताव

रखा जगडूशाह ने दोनों हाथ जोड़ लिए और कहा- मेरे पास अनाज का एक दाना भी नहीं है। मन्त्री को बड़ा आश्चर्य हुआ। कहाँ तो इनकी प्रसिद्धि, इतना उदार दानवीर और अब आपत्ति के समय कह रहा है- ''अनाज का एक दाना भी नहीं है। बात राजा तक पहुँची। राज बड़ा नाराज हुआ। जगडूशाह को दरबार में बुलवाया गया।'' राजा ने कहा- ''मैंने सुना है आपके भण्डार में पर्याप्त अनाज है, फिर भी आप अनाज देने से इंकार कर रहे हो।'' जगडूशाह ने विनम्रता पूर्वक जबाव दिया- ''यदि मेरे पास मेरा थोड़ा भी अनाज होता तो उसे देने में जरा भी देर नहीं करता। पर क्या करूँ, मैं मजबूर हूँ।'' ''तो फिर तुम्हारे कोठों में भरा अनाज किसका है?'' राजा ने उत्सुकता पुर्वक पूछा। ''राजन्! आप स्वयं चलकर देख लीजिए कि वह अनाज किसका है।'' शाह ने जबाव दिया।

राजा आश्चर्य और उत्सुकता के साथ जगडूशाह के साथ चला। जगडूशाह ने अपने अनाज के पहले कोठे को खुलवाया। अनाज के ढेर के साथ एक ताम्रपत्र गिरा। वह ताम्रपत्र शाह ने राजा को पकड़ाते हुए कहा- ''राजन्! आप कोठे का सारा अनाज अकाल पीड़ित मानवता का है।'' ताम्रपत्र पर लिखा था- ''इस कोठे का सारा अनाज किसका है?'' ताम्रपत्र पढ़कर राजा आश्चर्य चकित रह गया। शाह ने एक-एक करके अनाज से भरे बारह कोठे खुलवाये। सबके साथ निकले ताम्रपत्र में यही लिखा था कि - ''यह सारा अनाज अकाल पीड़ित मानवता का है।'' राजा ने जगडूशाह को गले लगा लिया और कहा- ''मैं तो कहने का राजा हूँ, लेकिन आप तो बेताज के बादशाह हो। मैं तो जनता को उधार देने की बात कह रहा था, लेकिन आपने तो अपना सारा अनाज देकर जनता का उद्धार कर दिया। आप धन्य हो।''

बन्धुओं, ऐसा वे ही लोग कर सकते हैं जिनकी अपरिग्रह में आस्था है, जो अपरिग्रह को आदर्श मानकर चलते हैं। जगडूशाह और भामा शाह जैसे लोग जैन समाज के गौरव हैं जिन्होंने अपने राष्ट्र और समाज के उत्थान में, मानवता की सेवा में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया।

ममता दुःख की खान

शिष्य गुरु के चरणों में वर्षों से साधनारत था। एक लम्बी कालाविध बीत जाने के बाद भी उसकी साधना सिद्धि तक नहीं पहुँच सकी। एक दिन उसने अपनी पीड़ा को गुरु चरणों में प्रकट करते हुए कहा- ''गुरुदेव! आपके श्री चरणों में साधना करते हुए एक अर्सा बीत गया है। आपने कहा था कि मैं तुम्हें परमात्मा से साक्षात्कार कराऊँगा। एक लम्बा अरसा बीत जाने के बाद भी मुझे अब तक परमात्मा का कोई आभास नहीं हुआ। क्या आपके श्री चरणों में साधना करने के बाद भी मुझे सिद्धि से वंचित रहना पड़ेगा।''

शिष्य की प्रार्थना को सुनकर गुरु मुस्कुरा उठे। उन्होंने शिष्य से कहा- ''चलो, आज मैं तुम्हें परमात्मा से साक्षात्कार करवाता हूँ।'' गुरु ने शिष्य को कुछ पत्थर पकड़ाते हुए कहा सामने की पहाड़ी पर चलने का इशारा किया और कहा- ''ऊपर चलो, वहीं पर मैं तुम्हें परमात्मा रहस्य बताऊँगा। लेकिन ये पत्थर साथ लेकर आना।'' पहाड़ी काफी ऊँची थी। शिष्य को पत्थरों का बोझ लेकर ऊपर चढ़ना बड़ा मुश्किल लग रहा था। उसने सोचा कहीं इन पत्थरों के चक्कर में मुझे बिलम्ब न हो जाए, अन्यथा आज फिर परमात्मा के रहस्य जानने का मौका हाथ से निकल जाएगा। यह सोचकर उसने अपने सिर से एक-एक पत्थर उतारकर फेंकना शुरू कर दिया। पत्थरों का वजन कम होते ही उसे ऊपर चढ़ने में आसानी हो गयी। वह फुर्ती से ऊपर चढ़ा। गुरु उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

शिष्य को खाली हाथ आया देखकर गुरु ने उससे पूछा - ''कि वे पत्थर कहाँ छोड़ आये?'' शिष्य ने कहा कि- ''गुरुदेव! उन पत्थरों के कारण तो ऊपर चढ़ना ही मुश्किल था। मैंने उन्हें बोझ जानकर नीचे ही फेंक दिया। अन्यथा मैं परमात्मा के रहस्य को जानने से वंचित रह जाता।'' गुरु ने शिष्य का सम्बोधित करते हुए कहा- ''वत्स! मात्र बाहर के पत्थर फेंकने से काम नहीं चलेगा, बाहर के बोझ के साथ-साथ भीतरी बोझ भी उतारना जरूरी है।'' जब तक चित्त पर काम, क्रोध, लोभ और मोह के पत्थरों का बोझ है, तब तक चेतना का ऊर्ध्वारोहण सम्भव नहीं है। चेतना के ऊर्ध्वारोहण के लिए बाहर और भीतर से हल्का होना जरूरी है। इसी हल्केपन का नाम है- 'आकिंचन्य'। **न किञ्चनम् अकिञ्चनम्- तस्य भावम् 'आकिञ्चन्यम्'।** मेरा कुछ भी नहीं है इस प्रतीति का नाम

आकिंचन्य है। प्रश्न हो सकता है कि जब सब कुछ त्याग दिया हो तो फिर बचा क्या? सन्त कहते हैं कि कोई जरूरी नहीं कि बाहर से सब कुछ त्याग देने पर भीतर से भी छूट जाये। हो निर्धन भिखारी भी मन में करोड़पति बनने की चाह रख सकता है। वस्तुतः बाहरी परिग्रह के त्याग के साथ भीतरी मूर्च्छा/आसक्ति भी टूटना चाहिए। तभी त्याग सार्थक होता है। और कुछ न भी हो तो जिसका त्याग किया उसका भी ममत्व हो सकता है। आकिंचन्य धर्म उससे भी ऊपर उठने की बात करता है। त्याग के बाद त्याग के ममत्व को त्यागने का नाम आकिंचन्य है।

आकिंचन्य धर्म का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए आचार्य अकलंक देव ने लिखा है- "**ममेदमभिसिन्धिनिर्वृत्तिराकिञ्चन्यम्**" यह मेरा है इस प्रकार के अभिप्राय के त्याग का नाम आकिंचन्य है। अध्यात्म की साधना के लिए ममत्व का त्याग अनिवार्य है, क्योंकि ममता ही दुःख की खान है। हमारे मन में पलने वाली ममता हमें बहिर्मुखी बनाती है। बहिर्मुखता दुःख की मूल है। संसार में अनेक प्रकार की घटनाएँ घटती हैं, हमें कोई फर्क नहीं पड़ता। पर जिसके प्रति ममत्व हो उसके साथ घटित छोटी सी घटना हमें प्रभावित कर लेती है। दुनियाँ में हजारों लोग रोज मरते हैं। हमारे मन पर उसका कोई असर नहीं पड़ता पर घर पर बेटे को थोड़ी सी तकलीफ हो तो बड़ी पीड़ा होती है। संयोग सुख दुःख नहीं देते, संयोगों के साथ जुड़ा हुआ ममत्व ही हमें प्रभावित करता है।

एक सेठ-सेठानी का इकलौता पुत्र था। चार वर्ष की अवस्था में खो गया। सेठ-सेठानी ने उसे बहुत खोजा पर उसका कहीं पता नहीं लगा। वे दोनों हार गये। वर्षों बीत गये। सेठ को एक नौकर की आवश्यकता हुई। उसे पन्द्रह वर्ष का एक नौकर मिल गया। सेठ रात-दिन उससे काम लेता। घर में जो कुछ बचा-खुचा रहता उसे खाने को दे देता। नौकर दिन-रात काम करता-करता थक जाता था, रात में ठीक से सो भी नहीं पाता था। एक बार उसे बुखार आ गया। बुखार की तीव्रता के कारण वह बिस्तर से उठ नहीं सका। सेठानी ने आवाज दी, पर उसे होश नहीं था। सेठानी गुस्से में उसके पास गई और झटके से उसको खींचा कि तभी उसके हाथ पर खुदे गुदने पर उसका ध्यान गया। नौकर के हाथ में उसका हाथ नाम लिखा था। यहीं नाम उसके बेटके का था। उसने नौकर के चेहरे को गौर से देखा उसे अपने बेटे से मिलता-जुलता दिखाई पड़ा, फिर क्या

था, उसने अपने पति को आवाज दी। सारा हाल सुनाया। डॉक्टर को बुलाया, उपचार कराया। होश में आने पर नौकर से उसका परिचय पूछा। उसने इतना ही कहा कि मैं अपने माँ-बाप के बारे में ज्यादा कुछ नहीं जानता। पर, मुझे इतना ही पता है कि मैं बचपन में एक बार खो गया था। उसके बाद अपने माँ-पिता से नहीं मिल सका। नौकर की बात सुनते ही सेठ-सेठानी खुशी से उछल पड़े। सेठानी ने नौकर को अपनी छाती से लगा लिया। अब वह उसका नौकर नहीं बेटा था। उसका मातृत्व उमड़ पड़ा। वह उस समय भी उसका बेटा था जब ज्वर ग्रस्त था और अब भी बेटा ही है। पर उस समय सेठ सेठानी को उससे कोई ममत्व नहीं था। इससे उसके प्रति व्यवहार अलग था और अब ममत्व जुड़ जाने से व्वयवहार बदल गया। यह 'मैं' और 'मेरापन' ही हमें प्रभावित करता है।

एक व्यक्ति के मकान में आग लग गई। शहर के मुख्य चौराहे पर खड़े इस मकान में लगी आग को देखने हजारों आदमी खड़े थे। मकान मालिक छाती पीट-पीट कर रो रहा था। तभी उसका मित्र आया और उसने उससे कहा- क्यों भाई! तुम क्यों रो रहे हो? यह मकान तो बिक चुका है। कल ही मेरे सामने तुम्हारे बेटे ने इसका सौदा किया है। मकान मालिक ने आश्चर्य पूर्वक पूछा-'सच!' उसने कहा हाँ। मकान मालिक का चेहरा खिल गया। मकान अब भी जल रहा है, पर उसे कोई फर्क नहीं पड़ रहा है, क्योंकि वह मकान उसका नहीं है किसी और का है। मकान के साथ अब ममत्व नहीं रहा। थोड़ी देर बाद उसका बेटा घबराया हुआ आया और कहा - ''पिताजी! बड़ा अनर्थ हो गया। सौदा निरस्त हो गया। सामने वाले ने मकान लेने से इंकार कर दिया है।'' सेठ ने सुना और फिर रोना शुरू कर दिया। मकान वही का वही, आग वही की वही, पर बीच में क्या हो गया। 'मेरा' मकान से अलग हो गया, आँसू सूख गये। फिर 'मेरा' मकान से जुड़ गया, वापिस आँसू बहने शुरू हो गये। 'मेरेपन' का भाव ही हमारे सुख-दुख का कारण है। यदि मेरे पन का यह भाव हट जाय, ममत्व बुद्धि छूट जाये तो फिर संसार का बन्धन नहीं हो सकता। सारे बन्धन का कारण यह ममत्व भाव ही है। आचार्य कहते हैं-

बध्यते मुच्यते जीवो सममो निर्ममो क्रमात्।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन निर्ममत्वं परो भवेत्।।

यह जीव ममता के कारण बँधता है और ममता को जीतने से मुक्त होता है अतः सर्वप्रयत्न से निर्ममत्व होने का प्रयतन करो। जिस दिन यह बोध जग जायेगा कि जहाँ जी रहा हूँ वह मेरा नहीं है, जिनके बीच जी रहा हूँ, वे मेरे नहीं है, उसी क्षण आकिंचन्यत्व की प्रतीति हो जायेगी।

इस सन्दर्भ में सुकुमाल मुनि के जीवन का प्रसंग बड़ा सटीक है। सुकुमाल मुनि के विषय में कहा जाता है कि वे बड़े सुकुमार थे। सरसों का दाना भी उन्हें चुभता था। सूर्य के प्रकाश को भी वे नहीं देख पाते थे। रत्नों के प्रकाश में उनका लालन-पालन हुआ था। उन्हीं सुकुमाल मुनि को जब वैराग्य हुआ तो सियारनी अपने दो बच्चों के साथ तीन दिन तक खाती रही, उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ा। वे अविचलित रहे, टस से मस नहीं हुए। कहाँ से आ गई शक्ति? शरीर वही, संहनन वहीं, फिर भी अद्‌भुत परिवर्तन। कितने आश्चर्य का विषय है? जिस सुकुमाल को सरसों का दाना भी चुभता था, सियारनी के तीक्ष्ण दाँतों के दंश से भी कुछ नहीं हो रहा है। कारण क्या है? कारण साफ है। जब तक सुकुमाल के मन में अपने शरीर से ममत्व था, जब वैराग्य हुआ, शरीर से ममत्व छूटा, अब उसका कोई प्रभाव नहीं। सन्त कहते हैं प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति है, पर मोहाभिभूत होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। आत्म शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए मोह का उपशमन अपेक्षित है।

संसार के परिभ्रमण के मूल हेतु मोह और ममता है। मोह और ममता के चक्कर में फँसकर ही प्राणी अपनी आत्मा का अहित करता है। सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि जिन-जिन चीजों से वह मोह करता है वहे सब क्षणिक संयोग हैं। कोई भी शाश्वत नहीं है। जैसे शराब के नशे में उन्मुक्त मनुष्य को कुछ भी सूझता नहीं है, वैसे ही मोहाभिभूत प्राणी को कुछ भी समझ में नहीं आता। मनुष्य के मन में ममता मुख्यतः तीन चीजों से होती है- शरीर, सम्पत्ति और सम्बन्धी।

शरीर से मनुष्य को बड़ा गहरा लगाव होता है। वह रात-दिन उसके ही पोषण में लगा रहता है, पर किसी का भी शरीर स्थाई नहीं है। यह क्षण-क्षण क्षीण होता रहता है। शरीर का स्वभाव ही ऐसा है। कोई इसे कितना भी मेन्टेन करना चाहे इसे मेन्टेन नहीं किया जा सकता। शरीर का रूप क्षण-क्षण बदलता

रहता है।

अपने वर्तमान रूप से पच्चीस-तीस वर्ष पीछे मुड़कर देखो, तुम्हें दिखाई पड़ेगा विष्टा से खेलता हुआ एक नन्हा सा बालक। यदि और थोड़ा पीछे जाओ तो तुम्हें दिखेगा माँ के गर्भ में उलटा लटका एक शिशु। यदि अपने वर्तमान रूप से पच्चीस-तीस वर्ष आगे बढ़कर देखा तो तुम्हें दिखाई पड़ेगा लाठियों के सहारे हाँफता-काँफता चलता हुआ एक वृद्ध। और यदि थोड़ा और आगे झाँककर देखोगे तो तुम्हें नजर आयेगी एक सुलगती हुई चिता, जिसमें तुम्हारा यह सुन्दर सलौना रूप तुम्हें सुलगता दिखाई पड़ेगा। शरीर का यही गुणधर्म है। अतः इससे ममत्व करना अज्ञानता है। रूप के व्यामोह में फँसा मनुष्य कभी-कभी अपने लिए विचित्र स्थिति निर्मित कर लेता है।

एक बार एक युवक रास्ते में चलते हुए असावधानीवश एक अंधे कुँए में गिर गया। कुँए के तल में थोड़ा सा जल था। उससे निकलते नहीं बन रहा था। तभी एक वृद्ध उधर से गुजरा। उसने युवक से आत्मीयता पूर्वक पूछा- ''क्यों बेटे! कैसे गिर गये।'' युवक ने कहा- ''महाशय, मैं गिरा नहीं हूँ, यह तो अमृत कुण्ड है इसमें उतरा हूँ। इस कुण्ड में स्नान करने चिर यौवन की प्राप्ति होती है। मैं भी तुम्हारी तरह वृद्ध था, पर इस अमृत कुण्ड के चमत्कारी जल के स्पर्श मात्र से जवान हो गया हूँ।'' वृद्ध को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा- ''सच में तुम जवान हो गये हो?'' युवक ने कहा- 'प्रमाण सामने है।' वृद्ध ने आव देखा न ताव युवा बनने की चाह में झट से कुँए में कूद पड़ा। वह युवक उस पर चढ़कर बाहर आ गया। बेचारा वृद्ध वहीं पड़ा-पड़ा ठिठुरता रहा।

यही स्थिति आज के मनुष्य की है। वह अपने शरीर के मोह में फँसकर संसार के गर्त में गिरता जा रहा है।

शरीर के साथ-साथ मनुष्य को सम्पत्ति के प्रति भी बड़ा प्रबल मोह होता है। सम्पत्ति शाश्वत नहीं है। जिस सम्पत्ति के पीछे मनुष्य स्वयं को विपत्ति में डालता है, रात दिन जिसकी चिन्ता में अनुरक्त रहता है, वास्तव में वह उसकी है ही कहाँ? मनुष्य कहता है यह मकान मेरा है, यह दुकान मेरी है, फैक्ट्री मेरी है। जिस मकान, दुकान और फैक्ट्री को तुम अपनी कह रहे हो क्या वह कभी यह कहते हैं कि तुम मेरे मालिक हो? मकान वही रहते हैं, मालिक बदल जाते हैं।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने बड़ी सार्थक बात लिखी है- एक बार मेरा एक धनिक के घर से गुजरना हुआ। धनिक ने अपना घर दिखाया। मकान बड़ा आकर्षक था। बड़े बाग, बड़े ठाट। सब कुछ दिखाकर उसने पूछा- कैसा लगा मेरा घर। मैंने सहजता से कहा- बहुत अच्छा।

पर तभी मुझे लगा कि मकान मुस्करा रहा है और इस मुस्कुराहट में मिठास नहीं है, व्यंग्य है।

मैंने धीरे से पूछा- ''क्यों भाई, तुम क्यों हँसे?''

उसने कहा- ''यूँ ही, तुम्हारे मित्र की बात सुनकर हँसी आ गई।''

उसमें हँसने की क्या बात है?

हँसने की क्या बात है! हूँ, अरे भाई उसमें हँसने के सिवाय और क्या बात है? तो फिर? कहता है मेरा घर पसन्द आया।

तो फिर क्या! ''मेरा घर! मेरा घर! यही बात इसका बाप कहा करता था और यही बात उसका बाप। दोनों जाने अब कहाँ गये। दोनों की तस्वीरें जरूर मेरी दीवारों पर टंगी हैं। जिन्हें छोटे से छेद में रहने वाली हजारों दीमकों में से एक नन्ही सी दीमक कुछ पलों में चाट सकती है।''

मैंने सहमे से उसकी तरफ देखा। वह अब भी मुस्करा रहा था।

काश! उस मकान की मुस्कुराहट को तुम समझ पाते। मकान ही क्या, दुनियाँ की हर चीज, जिसका मनुष्य संग्रह करता है और संग्रह करके उसे अपना बताता है, मनुष्य की नादानी पर हँसती है। जो अपना नहीं है उसे अपना मानना बहुत बड़ी भूल है। कोई किराये के मकान को अपना मानकर उसमें अधिकार जमाने का प्रयत्न करे तो उसे हम क्या कहेंगे? ऐसे व्यक्ति को जब मकान खाली करने की नौबत आती है तब बहुत नीचा देखना पड़ता है। वैसे ही जिन्दगी एक किराये का घर है, इसमें कुछ भी अपना नहीं। मौत के क्षण सब कुछ खाली करके जाना पड़ता है। इस वास्तविकता को समझने का प्रयत्न करें। कवि ठीक कहता है-

जब तेरी डोली निकाली जायेगी,
बिना मुहूरत के उठाली जायेगी,

हे मुसाफिर क्यों पसरता है यहाँ।
यह किराये से मिला तुझको मकाँ।
कोठरी खाली करा ली जायेगी।।

सन्त कहते हैं जड़ सम्पत्ति को नहीं, अपनी असली सम्पत्ति को पहचानो। आत्मनिधि के आगे संसार की सारी विभूति अति तुच्छ हैं। जो अपने आत्म वैभव को जान लेता है, उसे जगत् का सारा ठाठ जीर्ण तृण के समान लगने लगता है। उस वैभव को प्राप्त करने के लिए बहिर्मुता को छोड़कर आत्मस्थ होना पड़ेगा। आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं-

आकिञ्चन्योऽहम् इत्याश्स त्रैलोक्याधिपतिर्भवेत्।
योगिगम्यः तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः।।

'मैं आकिंचन्य हूँ,' यह प्रतीति कर लो, तीन लोक के अधिपति बन जाओगे। योगियों के द्वारा प्राप्य परमात्मा का यही रहस्य है। जो इस रहस्य को जान लेते हैं, वे बाह्य वैभव के चक्कर में नहीं फँसते। इस प्रसंग में रवीन्द्रनाथ टैगोर की यह कहानी बड़ी उत्प्रेरक है-

एक व्यक्ति को सपने में परमात्मा का दर्शन हुआ। परमात्मा ने उससे कहा- ''कि प्रातः उठकर अपने घर से मील दक्षिण की ओर जाना , नदी के किनारे एक साधु की कुटिया मिलेगी उस साधु के पास एक पारसमणि है, तुम जाओ और उसे माँग लो। तुम्हारी दरिद्रता दूर हो जायेगी।'' इतना देखते ही उसकी नींद खुल गई। वह प्रसन्नता से भरकर उठा और पौ फटते ही दक्षिण की ओर बढ़ चला। तीन मील की दूरी पूरी करते ही उसे साधु की कुटिया दिखाई पड़ी। वह वहाँ पहुँचा और साधु को प्रणाम कर रात सपने में घटी बात बताते हुए पारसमणि की याचना की।

साधु ने उससे कहा मेरे पास पारसमणि तो है, पर यहाँ नहीं है। यहाँ से आधा मील आगे एक वटवृक्ष है, उसके नीचे रखी है। तुम नदी के किनारे-किनारे जाओ और उसे ले लो। वह प्रसन्नता पूर्वक उधर बढ़ा। दूर से ही वट के वृक्ष के नीचे चमकता हुआ पारसमणि दिखाई पड़ा। उसने उमंगो से भरकर उसे उठाया कि तभी उसके मन में एक विचार कौंधा ''निश्चित रूप से यह साधु महान् है तभी तो इतनी कीमती मणि को यूँ ही खुला रख छोड़ा है। उसके पास इससे भी

मुल्यवान मणि होगी। यदि मुझे लेना ही है तो वही मणि लेनी चाहिए।'' यह विचार आते ही उसके हाथ की मणि छिटक कर जमीन में गिर गई और वह खाली हाथ वापिस लौट आया। उसे खाली हाथ लौटा देखकर सन्त ने पूछा- ''क्यों तुम मणि नहीं लाये?'' युवक ने कहा- ''प्रभु मुझे वह मणि नहीं चाहिए जो आप खुले आम रखते हैं। मुझे तो वह मणि चाहिए जो आप अपने पास सहेजकर रखते हैं।''

सन्त ने कहा- ''यदि दुनियाँ की सबसे मूल्यवान् मणि चाहते हो, तो उसके लिए कहीं बाहर भटकने की जरूरत नहीं है। वह तुम्हारे भीतर है। उस ओर देखने की कोशिश करो।''

सच में जीवन धन से बड़ा कोई धन नहीं है। जगत् में सबसे मूल्यवान जीवन है। जीवन के रहते ही जगत् के पदार्थों का मूल्य है। जीवन के विनष्ट हो जाने के बाद उनका क्या मूल्य? जो अपनी आत्मनिधि को जान लेता है, जगत् के जड़ वैभव से उसे लगाव नहीं रहता। काँच की ओर मनुष्य तभी तक आकर्षित होता है जब तक की उसे कंचन की पहचान नहीं होती। आत्मा की निधि को पहचानते ही जगत् की सारी सम्पत्ति जीर्ण तृण के समान प्रतिभाषित होने लगती है। सन्त कहते हैं, बाहर के सामान को बटोरने के चक्कर में अपने जीवन की निधि की उपेक्षा मत करो। बाहरी सम्पन्नता, सम्पन्नता नहीं है, यह तो भीतरी दरिद्रता को छिपाने का प्रयत्न मात्र है। जो अपने भीतर के वैभव का परिचय पा लेता है उसे बाहरी वैभव रास नहीं आते। वह फिर आपाधापी में नहीं उलझता।

आपाधापी में उलझा हुआ मनुष्य रात-दिन धन पैसे बटोरने के चक्कर में अपना जीवन बर्बाद कर देता है और अन्त में सब कुछ उसे मौत के हाथों छोड़कर जाना पड़ता है। बड़ी सार्थक हैं ये पंक्तियाँ -

जन्म लेकर मरण तक दौड़ता है आदमी।
दौड़ते ही दौड़ते दम तोड़ता है आदमी।।
आँख गीली ओठ ठंडे और दिल में आँधियाँ।
तीन मौसम एक ही संग ओढ़ता है आदमी।।
सुबह पलना शाम अर्थी और खटिया दोपहर।

तीन लकड़ी चार दिन में तोड़ता है आदमी।।
एक रोटी दो लँगोटी तीन गज कच्ची जमीन।
तीन चीजें जिन्दगी में जोड़ता है आदमी।।
है यहाँ विश्वास कितना आदमी का मौत पर।
मौत के हाथों सभी कुछ छोड़ता है आदमी।।

आखिर एक दिन मौत के भरोसे सब कुछ छोड़कर जाना ही है। सन्त कहते हैं- अनमोल जीवन मिला है तो जड़ पदार्थों को पाने के चक्कर में तुम इसका दुरुपयोग क्यों कर रहे हो? धन-सम्पत्ति, पद-प्रतिष्ठा की आखिर कीमत कितनी है? क्या ये सब जीवन से भी ज्यादा मूल्यवान् हैं, जो इनके पीछे तुम अपना जीवन गवाँ रहे हो? अगर सारी दुनियाँ का साम्राज्य तुम्हारे अधिकार में हो और उसे एक तराजू पर रखकर दूसरी ओर जीवन को रखा जाये तो संसार का साम्राज्य भी शायद जीवन की बराबरी नहीं कर पायेगा।

मृत्यु के समय सिकन्दर अपने जीवन को कुछ समय के लिए बढ़ाना चाहता था। उसने उसके लिए अपना पूरा साम्राज्य देने की घोषणा कर दी। पर क्या वह अपार साम्राज्य उसे और अधिक जीवन दे पाया? जीवन के सामने साम्राज्य को मात खानी पड़ी। आखिर किस काम का वह वैभव जो हमारी सान्ध्यवेला में हमारे सामने ही प्रश्नचिह्न बनकर खड़ा हो जाये। आखिर ये सब किसलिए हैं? अपने बाह्य वैभव को बढ़ाने की अपेक्षा भीतरी वैभव पर दृष्टि डालने का प्रयत्न करो। कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम बाहर से सब कुछ पाते जा रहे हो, जो नश्वर है और भीतर का वह सब कुछ खोते जा रहे हो जो अविनश्वर है। अविनश्वर को खोकर विनश्वर को गर पा भी लिया तो क्या पाया?

तीसरी आसक्ति है, अपने सम्बन्धियों की। मनुष्य संसार में जन्म लेता है, उसके सांसारिक सम्बन्ध होते हैं। माँ, बाप, पत्नी, बच्चे, परिवार आदि को वह अपना मानकर चलता है। यथार्थतः देखा जाए तो कोई किसी का नहीं है। संसार के सारे लोगों का सम्बन्ध एक मेले की तरह है। कहीं पर मेला जुटता है अनेक लोग एक एकत्रित होते हैं, और मेले के खत्म होते ही सभी लोग अपने-अपने गन्तव्य की ओर चले जाते हैं। वहाँ कोई किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। आचार्य कहते हैं-

दिग्देशेभ्यः खगा एत्यः संवसन्ति नगे नगे।
स्व-स्व कार्य वशाद्यान्ति देशे दिक्षू प्रगे प्रगे।।

जैसे शाम के समय पक्षी अनेक दिशाओं से आकर पेड़ो पर बसेरा करते हैं और सुबह होते ही सभी अपनी-अपनी दिशा में प्रस्थित हो जाते हैं। वैसे ही संसार के ये सारे सम्बन्धी कुछ देर के लिए एकत्रित होते हैं और मौत का पैगाम आते ही अपने-अपने गन्तव्य की ओर चले जाते हैं। किसी को भी अपना मानकर चलना अज्ञानता है। कोई किसी का कितना भी आत्मीय क्यों न हो वह उसका नहीं हो सकता।

एक सन्त एकत्व भावना पर प्रवचन कर रहे थे- ''संसार के सारे सम्बन्ध स्वार्थ पर टिके हैं। यथार्थ में कोई किसी का नहीं है।'' एक धनिक को यह बात नागवार गुजरी। उसने सन्त से कहा- ''आप लोगों को भ्रमित कर रहे हैं। आपका कोई नहीं होगा, मेरे तो सब हैं। मुझे तो मेरे परिवार में सब बहुत चाहते हैं। मेरे बिना परिवार का कोई काम नही होता।'' सन्त तो सन्त थे, बोले- ''हो सकता है मेरी अवधारणा गलत हो। तुम कहते हो तुम्हारे सब हैं, क्या तुम्हें पूरा विश्वास है?''

वह बोला- ''हाँ! मुझे पूरा विश्वास है।''

सन्त बोले - ''कौन-कौन हैं तुम्हारे परिवार में? सबके तुम आत्मीय हो?'' युवक ने कहा- ''मेरे माता-पिता हैं, चार भाई हैं, पत्नी है। सभी मुझे प्राणों से अधिक चाहते हैं। उनकी आत्मीयता में मुझे रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं है।'' सन्त ने कहा- ठीक है, मैं तुम्हें एक प्रयोग बताता हूँ, इससे सब कुछ स्पष्ट हो जायेगा। युवक घर आया और अस्वस्थता का प्रदर्शन करता हुआ अचेत हो गिर पड़ा। घर के सारे सदस्य घबड़ा गये। सबने अपनी शक्तिभर उपचार करने का प्रयास किया। रोग किसी की समझ में नहीं आ रहा था। डॉक्टर, वैद्यों के उपचार से कोई लाभ नहीं हुआ। उसकी श्वास बन्द हो गई। परिवार के सब लोग विलाप करने लगे। उसी समय वे सन्त उधर से निकले। वे एक महान् सिद्ध सन्त के रूप में विख्यात थे। परिवार के लोग उनके चरणों में गिर पड़े। प्रार्थना करने लगे- ''महात्मन्! आप तो सिद्ध योगी हैं। हमारा लाडला प्राणों से प्यारा, मृतप्राय पड़ा है। कृपा करें, उसके प्राणों की रक्षा करें।'' सन्त उनके साथ आये। युवक को

देख गम्भीर हुए, फिर कहा- अभी प्राण शेष हैं, यह बच जायेगा। एक गिलास में पानी मँगवाया। कुछ मन्त्र पढ़ा और कहा- ''आप में से कोई यदि इस जल को पी ले तो यह जीवित हो उठेगा।'' सब प्रसन्न कहने लगे- ''लाओ, मैं पी लूँ।'' सन्त ने कहा- ''जो यह पानी पीयेगा, उसके प्राण चले जायेंगे।'' अभी तक उस जल को पीने को उत्सुक सबके चेहरे मुरझा गये। अब कोई आगे नहीं आ रहा था। सन्त ने युवक की माँ से कहा- ''माता जी आप कह रही थीं यह आपके कलेजे का टुकड़ा है, इसके बिना जीनास दूभर हो जायेगा, वैसे भी आपने जीवन में बहुत कुछ देख लिया है। अतः आप यह जल पी लो, आपका बेटा जीवित हो जायेगा।'' माँ बोली- ''वो सब तो ठीक है, मुझे इससे बहुत लगाव भी है, पर क्या करूँ, ये एक चला गया, बाकी चार तो हैं।'' माँ ने इंकार कर दिया। तो सन्त ने पिता की ओर इशारा किया। पिता बोले- ''जब उसकी माँ ही तैयार नहीं है तो मैं क्या करूँ, पिता ने भी इंकार कर दिया। सन्त ने युवक की पत्नी से कहा- ''तुम कहती थीं, ये तुम्हें प्राणों से भी प्यारे हैं इनके वियोग में क्या जीना। वैसे भी पति के अभाव में पत्नी का जीवन अधूरा होता है। अतः इसे पी लो, इससे आपके पति को नया जीवन मिलेगा।'' पत्नी ने भी इंकार कर दिया। भाईयों ने भी मना कर दिया। सब सन्त से कहने लगे, आपका आगे पीछे कोई नहीं है आप ही पी लो। सन्त ने पानी पी लिया, युवक उठकर खड़ा हो गया। सन्त निकल पड़े। वह युवक भी उनके पीछे चल पड़ा। सारे परिवार के लोग फिर माया ममता दिखाने लगे, उसे रोकने लगे। उसने कहा- ''मुझे ज्ञान हो गया है, मुझे कहाँ जाना है। अब मैं अपने घर जा रहा हूँ। अभी तक घर नहीं जंजाल में था।'' वह सनत के चरणों में गया और सन्त का ही हो गया।

मैं एकाकी एकत्व लिए, एकत्व लिए सब ही आते।
तन धन को साथी समझा था, पर ये भी छोड़ चले जाते।।

इस एकत्व की प्रतीति ही आकिंचन्यता की उपलब्धि है। वस्तुतः संसार में कोई किसी का नहीं है। संसार का हर व्यक्ति अनाथ है, कोई किसी का नाथ और साथ नहीं है। कोई चाहे भी तो किसी का साथ नहीं दे सकता। कोई व्यक्ति कितना भी आत्मीय क्यों न हो, यदि उसके सिर में दर्द को बाँट नहीं सकता। संसार के प्रत्येक प्राणी को अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुख भोगना पड़ता

है। यह वस्तु व्यवस्था है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं-

एगो से सास्सदो आदा णाण दंसण लक्खणो।
सेसा में बाहिराभावा सव्वे संजोग लक्खणा।।

ज्ञान दर्शन लक्षण वाली एक शाश्वत आत्मा ही मैं हूँ और वही मेरी है। उस आत्मा से भिन्न जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वे सब संयोग मात्र हैं।

संयोग मात्र संयोग होते हैं। संयोग वियोग धर्मा है। ''सर्वे संयोगा विप्रयोगान्ता।'' जो बाह्य संयोगों में ममत्व बुद्धि रखते हैं, उन्हें अपना मानते हैं, वे अनुकूल संयोगों के मिलने पर हर्षित होते हैं और संयोगों के छूटने पर विषाद करते हैं। जबकि संयोग मात्र संयोग होते हैं। अनुकूल हो या प्रतिकूल, वे अधिक देर तक टिकते नहीं हैं। संसार का कोई भी संयोग स्थाई नहीं है। यदि स्थाई कुछ है तो एक मात्र अपनी आकिंचन्य आत्मा है।

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा सुनिर्मलः साधिगमः स्वभावः।
बहिर्भवा सन्त्यपरे समस्ता न शाश्वता कर्म भवा स्वकीया।।

निर्मल और ज्ञान स्वभावी आत्मा ही सदा शाश्वत है। वही मेरी है। इस आत्मा से पृथक् जितने भी बाहरी पदार्थ हैं वे अशाश्वत हैं, कर्मों से उत्पन्न हैं, मेरे नहीं हैं। जो अपना नहीं है, नश्वर है, उससे अनुराग रखना अज्ञानता नहीं तो क्या है अनुराग भी रखना है तो उससे रखो जो तुम्हारा है, सदा है और शाश्वत है। अपनी आत्मा के एकत्व का शाश्वत बोध ही जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि है।

तीन तरह के सम्बन्ध होते हैं- सांसारिक सम्बन्ध, सम्पादित सम्बन्ध और शाश्वत सम्बन्ध। शरीर और आत्म का सम्बन्ध सांसारिक सम्बन्ध है। जन्म लेते ही मनुष्य को शरीर मिलता है। माँ-बाप का सम्बन्ध भी सांसारिक है, यह सम्बन्ध जन्म से लेकर मृत्यु तक चलनसे वाला सम्बन्ध है। दूसरा सम्बन्ध है सम्पादित सम्बन्ध। मनुष्य अपने परिश्रम द्वारा जो कुछ भी एकत्रित करता है, धन, पैसा, प्रतिष्ठा आदि संसार का जितना विस्तार है वह सब उसके द्वारा सम्पादित है। तीसरा सम्बन्ध है शाश्वत सम्बन्ध। जीव और आत्मा का सम्बन्ध शाश्वत सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध त्रैकालिक है, कभी भी नष्ट नहीं हो सकता। जन्म से पहले भी था और मृत्यु के बाद भी रहेगा। सांसारिक और सम्पादित सम्बन्ध यही छूट जायेंगे पर आत्मा का शाश्वत सम्बन्ध कभी नहीं छूटने वाला है। अतः उस

शाश्वत आत्मा के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करो।

सांसारिक संयोगों को अपना मानता तो ऐसा ही है जैसे रात कोई सपने में देखे कि मैं राजा बन गया और स्वयं को राजा मानने लगे। स्वप्न में राजा बनने से कोई राजा थोड़े ही बनता है। स्वप्न के टूटते ही सत्य सामने आ जाता है। स्वप्न के टूटने के लिए नींद खुलना जरूरी है। जब तक नींद नहीं खुलती स्वप्न भी सत्य प्रतिभाषित होता है। नींद के खुलते ही स्वप्न और सत्य का भेद खुल जाता है। संसारी प्राणी गहन सुषुप्ति में जी रहा है। वह अपने स्वरूप से बेभान है। एक बार एक व्यक्ति से किसी ने कहा कि ''भाई! तुम यहाँ क्या कर रहे हो, तुम्हारी पत्नी विधवा हो गई है।'' उसने सुना और दुःखी होकर रोने लगा। आत्म अजागृति का इससे बड़ा उदाहरण अब और क्या होगा? अरे भाई! तुम जिन्दा हो तो तुम्हारी पत्नी विधवा कैसे हो सकती है? समझ में नहीं आता। आचार्य कुन्द कुन्द कहते हैं- 'ममत्व बुद्धि का मूल कारण अप्रतिबुद्धता है।' जब तक बाह्य पदार्थों में 'मैं' और 'मेरेपन' का भाव है- अप्रतिबुद्धता है। यह अप्रतिबुद्धता ही सोयापन है। अप्रतिबुद्ध होने का मतलब है- सोये रहना। और सोता हुआ आदमी ही स्वप्न देखता है। स्वप्न को देखकर कभी वह सुखी होता है, कभी दुःखी होता है। सपना, सपना है वह अपना नहीं है। सपने को अपना मानना एक बहुत बड़ी भ्रान्ति है जो कि नींद खुलने पर ही टूट सकती है। भ्रान्ति के टूटने के बाद न ममत्व होगा न आसक्ति और न ही फिर किसी प्रकार का दुःख हो सकता है।

कोई व्यक्ति नींद में सो रहा हो, सपने में देखता है कि उसके मकान में आग लग गई है। सारा मकान धू-धू कर जल रहा है। आग की लपटें बढ़ते-बढ़ते उसके कक्ष तक आ गई हैं। दरवाजे और परदे जलने लगे हैं, वह एकदम घबराया हुआ है। मैं पूछना चाहता हूँ कि उस व्यक्ति के मकान की आग बुझाने के लिए कितने बाल्टी पानी की आवश्यकता होगी? एक बूँद पानी की भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है उसे झकझोर कर जगा देने की। उसके जागते ही उसकी आग अपने आप बुझ जायेगी। वस्तुतः आग लगी ही कहाँ थी। आग का लगना एक भ्रान्ति थी जो स्वप्न में उत्पन्न हुई थी। नींद के खुलते ही वह भ्रान्ति अपने आप टूट गई।

जब आँख खुली सपना गया।

नश्वर है संसार यह।
जब आँख फिर दफना गया।।

जगत् के स्वप्न का टूटना तभी सम्भव है जब प्रज्ञा की आँख खुले। संसार का प्रत्येक प्राणी मोह की प्रगाढ़ निद्रा में है। वह अनेक प्रकार के सपने गढ़ता है। सारे जीवन रंगीन सपने संजोने वाला प्राणी एक दिन सब कुछ यहीं छोड़कर चल देता है। मनुष्य की स्थिति तो उन बच्चों की तरह है जो रेत के घरौंदे बनाते हैं, दिनभर खेलते हैं और फिर घर लौटते समय अपने ही पैरों से उसे गिरा देते हैं। संसार के सारे संयोग ऐसे ही रेत के घरौंदे के समान हैं। मनुष्य पूरा जीवन लगाकर एक घरौंदा तैयार करता है और अन्त में मरते समय उस पर लात मारकर उसे गिरा देता है। जिस घरौंदे को एक दिन टूटना ही है उसके पीछे ज्यादा पागल होना बुद्धिमानी नहीं है। माटी तो माटी है, उसे एक दिन माटी में मिलना ही है। सन्त कहते हैं जीवन की नश्वरता और आत्मा की अमरता को जानो। ऐसा व्यक्ति माटी से भी सोना निकालने की कला जानता है। वह मृणमय से चिन्मय बन जाता है। कटनी के सवाई सिंघई जय कुमार जी ने मुझको एक सत्य घटना सुनाई। वे मेरठ के अपने एक व्यापारी मित्र के यहाँ गये। उनके मकान के मुख्य दरवाजे पर एक शेर लिखा था–

अगाह अपनी मौत का कोई बसर नहीं।
सामान सौ बरस का पल की खबर नहीं।।

घर के मुख्य द्वार पर लिखे शेर को पढ़कर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने इसका कारण पूछा तो व्यापारी मित्र ने बताया कि मेरे पिता ने तीस लाख रुपये की लागत से बड़ी मेहनत से इस मकान को तैयार कराया, पानी की तरह पैसा बहाया, पर क्या बताऊँ, जिस दिन गृह प्रवेश था, उस दिन उन्होंने जैसे ही अपना पहला पैर मकान के अन्दर रखा, उनका हार्टफैल हो गया, उनका दूसरा पैर बाहर ही था। इसे ही ध्यान में रखकर बोध वाक्य की तरह उक्त शेर यहाँ लिखवा रखा है।

यही जीवन की हकीकत है। बहुत कम मनुष्य इसे स्वीकार करते हैं। इतना सब कुछ जानते हुए भी मनुष्य की आसक्ति नहीं छूटती। मनुष्य ही कहता है कि क्या करें संसार की आसक्ति छूटती नहीं। छूटती नहीं है कि तुम छोड़ते

नहीं। वस्तुतः पदार्थ ने मनुष्य को नहीं पकड़ा है, मनुष्य ही पदार्थ को पकड़े है। कोई व्यक्ति खम्भे को पकड़कर कहे कि यह खम्बा मुझे पकड़े तो उसे हम क्या कहें? मनुष्य की स्थिति बन्दर के सदृश है। बन्दर को चने बड़े प्रिय होते हैं। बन्दर पकड़ने वाले उन्हें पकड़ने के लिए सकरे मुँड़े के घड़े में चने डालकर रख देते हैं। बन्दर चने के लोभ में अपने हाथ को घड़े डालता है, मुट्ठी भरता है, मुट्ठी के भर जाने के कारण उसका हाथ बाहर नहीं निकल पाता है और बन्दर सोचता है इस घड़े ने मुझे पकड़ रखा है, इसी चक्कर में वह पकड़ा जाता है। वस्तुतः घड़े ने तुम्हें पकड़ा है कि तुमने घड़े को पकड़ रखा है? मुट्ठी ढीली करो, हाथ अपने आप बाहर आ जायेगा। जब तक मुट्ठी भरी रहेगी तब तक बन्धन से मुक्त हो पाना सम्भव नहीं है। सन्त कहते हैं- मुक्त होना चाहते हो तो 'मेरेपन' की मुट्ठी को ढीली करो। लोग कहते हैं - ''महाराज, वो तो करेंगे, पर तब तक के लिए तो कुछ उपाय बता दो।'' जैसे मैं तुम्हें बाँधे हूँ। अरे बन्धु! बात साफ है, जब तक आसक्ति,ममत्व और मूर्छा से मुक्त नहीं होओगे, आत्मा का उद्धार सम्भव नहीं है। पर क्या करें, मनुष्य सब कुछ जानकर भी अनजान बना है-

हाथों में अंगार लिए ये मैं पूछता रहा।
कोई मुझे इन अंगारो की तासीर बता दे।।

संसार की मोह, ममता के दुःखद परिणाम को भोगते हुए भी मनुष्य की आशा, तृष्णा कम नहीं होती। जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती है उसकी आसक्ति और अधिक बढ़ती जाती है। ममता का खेल ही कुछ ऐसा है, मनुष्य के जीवन में बढ़ती हुई ममता का चित्रण करते हुए कवि गोविन्ददास ने बड़ा प्रेरक भजन लिखा है।

जा ममता दिन-दिन होत सवाई,
मिथ्यामति की जाई। जा ममता।।
सौ से सहस सहस से लाखन, लाख की बढ़ी दहाई।
दिन दिन दूनी होन लगी फिर, तौऊ शान्ति नहीं पाई।। जा ममता।।
बचपन गओ जवानी कड़ गई, फिर भी समझ न आयी।
बूढ़ो भयो कान भये बैरे, नैन की ज्योति गमाई।। जा ममता।।
नाक झिरै झिरना की नाई, गले में जम गई काई।
मुँह में से बत्तीसई भग गये, किले की बन गई खाई।। जा ममता।।

भाई बन्धु कोनऊ पूछत नईयाँ, मन में गुर्राय लुगाई।
इनके मारे जी उकता गऔ, इनै मौत नै आई।। जा ममता।।
मिथ्यामति विपरीत बुद्धि भई, निज हित करी सफाई।
हीरा सौ जो नर भव खोकें कुवाँ में ढूँढे पाई।। जा ममता।।
झूठे जग की ममता में तो, काल अनन्त गमाई।
अजहू चेत जाओ तुम गोविन्द, जिनवर मिलो सहाई।। जा ममता।।

प्रत्येक व्यक्ति की यही स्थिति है। ममता दिन प्रतिदिन बढ़ रही है। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है, काया क्षीण होती है, ममता बढ़ती जाती है। सन्त कहते हैं- ममता को क्षीण करो। मोह और ममता के चक्कर में फँसकर अपने मूल्यवान् जीवन को व्यर्थ मत गँवाओ। जगत् की नश्वरता को समझने की कोशिश करो। जगत् की नश्वरता और आत्मा की अमरता को जानने वाला ही ममत्व पर विजय पा सकता है।

कई बार लोग कहते हैं कि महाराज। ममत्व को छोड़ने का भाव तो बहुत करते हैं फिर भी संसार की आसक्ति आपनी ओर खींच लेती है। कोई ऐसा उपाय बतायें जिससे कि संसार की आसक्ति से बचा जा सके। आचार्य उमास्वामी ने संसार में ममत्व को घटाने का उपाय बताते हुए कहा है-

जगत काय स्वभावौ वा संवेग वैराग्यार्थ्।

संवेग और वैराग्य भावों की वृद्धि के लिए संसार और शरीर की नश्वरता और भोगों की असारता का चिन्तन करते रहो। ममत्व आपो-आप क्षीण होगा। एक बार संसार की असारता समझ लेने पर फिर वह अपनी ओर खींच नहीं सकता। ममत्व और आसक्ति से बचना चाहते हो तो सदैव इन पंक्तियों का ध्यान रखें।

संसार शोकमय है
जीवन भोगमय है
काया रोगमय है
सम्बन्ध वियोगमय है
साधना उपयोग मय है

वासना से वात्सल्य की ओर

बात उत्तम ब्रह्मचर्य की है। विश्व के समस्त धर्मों में ब्रह्मचर्य को एक पावन और पवित्र धर्म माना गया है। यह समस्त साधनाओं कामूल आधारहै। ब्रह्मचर्य को अपनाये बिना आत्मा की उपलब्धि असम्भव है। ब्रह्म का अर्थ है- आत्मा। आत्मा की उपलब्धि के लिए किया जाने वाला आचरण ब्रह्मचर्य है। आत्मोपलब्धि ही परम ब्रह्म की उत्पत्ति है। जो व्यक्ति आत्मा के जितना निकट है वह उतना ही बड़ा ब्रह्मचारी है तथा जो आत्मा से जितना दूर है वह उतना ही बड़ा भ्रमचारी है हमें ब्रह्मचारी और भ्रमचारी में अन्तर करके चलना है। ब्रह्मचारी का अर्थ है ब्रह्म (ब्रह्ममय आचरण करने वाला)में जीने वाला और भ्रमचारी का अर्थ है भ्रम में जीने वाला। भ्रम के टूटे बिना ब्रह्म को पाना असम्भव है और ब्रह्म को पाने के लिए उसका ज्ञान होना आवश्यक है। आत्मा की दूरी और नैकट्य से ही ब्रह्म और अब्रह्मचर्य का परिचय मिलता है।

प्रश्न है कि आत्मा से हमारी दूरी कौन कराता है? काम और भोग ही हमें हमारी आत्मा से बाहर लाते हैं। कामनाओं से ग्रसित व्यक्ति का चित्त सारी दुनिया में दौड़ता रहता है। काम और भोग ही हमें भटकाने वाले तत्त्व हैं। जिसके अन्दर जितनी अधिक कामनाएँ हैं वह आत्मा से उतना ही अधिक दूर हैं, तथा जो कामनाओं से जितना अधिक मुक्त है वह आत्मा से उतना ही अधिक नजदीक है। कामनाएँ हमें बहिर्मुखी बनाती हैं और कामना मुक्ति अन्तर्मुखता का आधार है। अन्तर्मुखी आत्मा में ही ब्रह्म का तेज प्रकाशित होता है। उसके लिए काम-भोग की आकांक्षाओं से ऊपर उठना अनिवार्य है।

जन्म जन्मान्तरों से मनुष्य काम का दास बना हुआ है। अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए उसने क्या नहीं किया, पर मिला क्या? सिवाय प्यास, अतृप्ति और पीड़ा के? आज तक का हमारा यही अनुभव है कि काम-भोग की आकांक्षाओं/वासनाओं से अभी तक मनुष्य को कुछ भी नहीं मिला। भला कोई रेत से तेल निकालना चाहे तो उसे क्या प्राप्त होगा? किन्तु उसके बाद भी हमारी प्रवृत्ति नहीं बदलती। मनुष्य बार-बार उनकी ओर आकर्षित होता है और पुनः अतृप्ति और प्यास में फँसकर रह जाता है। जैसे मृगरीचिका में मृग को दौड़कर

अपने प्राण गँवाने पड़ते हैं, वैसे ही कामनाओं के पीछे दौड़ता हुआ मनुष्य अपना जीवन बर्बाद कर लेता है, पर पाता कुछ नहीं, पा ही नहीं सकता। क्योंकि हम पूजा में पढ़ते हैं –

भोगों को इतना भोगा कि खुद को ही भोग बना डाला।
साध्य और साधन का अन्तर मैंने आज भुला डाला।।

यह आज तक का अनुभव है, पर हम अनुभव को भूल जाते हैं। आकांक्षाओं/वासनाओं की आशा हमें प्रभावित करती है और हमारा अनुभव पराजित हो जाता है। वासना/आकांक्षा/तृष्णा को कोई कितना भी पूर्ण करना चाहे, वह पूरी नहीं हो सकती। वह तो सुरसा की तरह है, जिसका मुख निरन्तर फैलता ही जाता है। सन्त कहते हैं– वासना दुष्पूर है। वह एक ऐसे कलश की भाँति है जो पेंदी विहीन है। पेंदी विहीन कलश को कोई कितना भी भरना चाहे वह रिक्त ही रहेगा। उसे भरने का प्रयास करना हमारी नादानी है।

जो भरा ही नहीं जा सकता उसे भरने का प्रयास करना पागलपन नहीं है तो क्या है? आचार्य श्री कुन्दकुन्द कहते हैं–

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि काम भोग बंध कहा।
एयतस्सुवलंभों णवरि ण सुलहो विहत्तस्स।।

तुम्हारे द्वारा काम–भोग और बन्ध की कथाएँ तो जन्म–जन्मांतरों में सुनी गई हैं, परिचित हैं, अनुभूत हैं, उसमें कोई नवीनता नहीं है। यदि सुनना ही चाहते हो तो उस आत्मा की कथा सुनो जिसे आज तक सुना नहीं। परिचय ही पाना चाहते हो तो उसका पाओ जापे आज तक अपरिचित रहा है। अनुभव ही करना चाहते हो तो उसका करो जो आज तक अननुभूत रहा है, तभी तुम जीवन का सच्चा सार पा सकोगे। यह उसके ही जीवन में सम्भव है, जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है। आत्मज्ञान के अभाव में ब्रह्मचर्य घटित नहीं हो सकता। ब्रह्म के स्वरूप को समझने पर ही भ्रम का निवारण होता है। जिन्हें विषयों में ही सुख प्राप्ति की भ्रान्ति बनी है वे आत्मा के शाश्वत सुख का प्राप्त नहीं कर सकते। विषयों में ही सुख की कामना करना तो आग को आग से बुझाने का प्रयास करना है। सन्त कहते हैं– ''जो व्यक्ति विषय सेवन से काम के ताप को शान्त करना

चाहते हैं, वे जलती ज्वाला में घी की आहुति डालकर उसे बुझाना चाहते हैं।''

काम-भोग से आखिर कौन सा सुख मिलता है? हड्डियों के दो ढाँचों के पारस्परिक संघर्ष से क्या मिलने वाला है? कुत्ता हड्डी चबाता है और उसे ऐसा लगता है, मानो उससे रस आ रहा है। सूखी हड्डी में भला कोई रस है? हड्डी चबाते-चबाते उसके मसूड़े छिल जाते हैं, उसके मुख से रक्त निकलता है और उसे लगता है यह रस हड्डी का है। कामभोग का सुख ऐसा ही है। जैसे कोई व्यक्ति खाज खुजलाता है, उस समय उसे थोड़ी देर के लिए आराम मिलता है, पर खाज खुजला चुकने के पश्चात् उसे समझ में आता है कि खाज कितनी पीड़ा दायक है। वस्तुतः ये भोग, भोगते समय मधुर लगते हैं पर परिपाक काल में बहुत पीड़ादायी होते हैं। वासना उस 'कंपाक' विषफल के समान है जो खाने में मधुर, देखने में सुन्दर और सूँघने में सुरभित होता है, किन्तु जिसका परिणाम है- मृत्यु! आचार्यों ने लिखा है-

खणमितत सुक्खा बहुकाल दुक्खा पगाम सुक्खा अणिगाम दुक्खा।
संसार मोक्खस्स विपक्ख भूया खाणि अणत्थ्झाण उ काम भोया।।

''काम-भोग से एक क्षण का सुख, बहुत काल का दुःख, सीमित सुख ओर असीमित दुःख मिलता है। ये संसार से मुक्ति के विपक्ष भूत हैं और सारे अनर्थों की मूल हैं।''

इसीलिए आचार्यश्री कुन्दकुन्द कहते हैं कि अर्थहीन काम और भोग में उलझने से कोई लाभ नहीं है। यदि तुम्हें भोग ही करना है तो अपनी चेतना का भोग करो। चेतना का भोग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। आत्मा में डूबने वालों को ही असली आनन्द आता है। वे बड़ी मधुर प्रेरणा देते हैं।

एदम्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होई णिच्चमेदम्मि।
एदेण होई तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं।।

तुम इस आत्मा में नित्य रमण करो, आत्मा में ही सन्तुष्ट होओ, अपने आप में ही तृप्त होओ, तभी तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। यदि तुम प्रेम करना चाहते हो तो आत्मा से प्रेम करो। आत्मा का प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। आज जिसे

प्रेम कहा जाता है वस्तुतः वह प्रेम नहीं, देहानुराग है। देह से ऊपर उठकर आत्मा से प्रेम करना चाहिए। आत्मानुराग ही वास्तविक प्रेम है। आचार्यश्री ने मूकमाटी में लिखा है-

प्रीत मैं उसे मानता हूँ
जो अंगातीत होता है
गीत में उसे मानता हूँ
जो संगातीत होता है।

देहानुराग और आत्मानुराग में बहुत अन्तर है। इन दोनों में ही अन्तर है जितना कि वासना और वात्सल्य में। देह पर आधारित प्रेम वासनामय होता है, आत्मा पर आधारित प्रेम वात्सल्यमय होता है। एक में वासना का विकार है तो दूसरे में ब्रह्मचर्य की शोभा।

यद्यपि देहानुराग और आत्मानुराग दोनों में अनुराग/आकर्षण है, पर दोनों एक नहीं हैं। दोनों में उतना ही अन्तर है जितना कि 'आक' के दूध और 'गाय' के दूध में। देखने में दोनों प्रकार का दूध सफेद दिखता है पर दोनों की गुणवत्ता में बहुत अन्तर है। 'गाय' का दुध पुष्टिकारक होने से जीवनदायक है तो 'आक' का दूध जहर का काम करता है। एक जहर है तो दूसरा अमृत। इसी प्रकार देहानुराग में वासना का विष है तो आत्मानुराग ब्रह्मचर्य के अमृत से अनुप्राणित है। जो वात्सल्यमय जीवन जीता है वह अमर बन जाता है और जो वासनामय जीवन जीता है, उसका जीवन विनष्ट हो जाता है।

हम पौराणिक प्रसंगो को देखें, उनमें ऐसे अनेक आख्यान हैं, जो देहानुराग और आत्मानुराग के परिणामों को दर्शाते हैं। इस सन्दर्भ में शूर्पणखा और सीता का जीवन देखें। सीता श्रीराम के प्रति समर्पित थी तो कुछ देर के लिए शूर्पणखा भी श्रीराम की ओर आकर्षित हुई, उसके मन में भी श्रीराम के प्रति अनुराग दिखा। पर दोनों के अनुराग में बड़ा अन्तर है। सीता के मन में श्रीराम के प्रति श्रद्धा थी, आस्था थी, भक्ति थी और अनुराग था। वह श्रीराम के प्रति पूर्णतः समर्पित थी। वह उन्हें पति के रूप में ही नहीं परमेश्वर के रूप में देखती थी क्योंकि वह एक पतिव्रता नारी थी। दूसरी ओर, शूर्पणखा का अनुराग मात्र

देहानुराग था। वह श्रीराम के माध्यम से अपनी वासना की पूर्ति करना चाहती थी। यही कारण है कि श्रीराम के समझाने पर वह लक्ष्मण के पास चली गयी। अन्यथा वह किसी भी स्थिति में लक्ष्मण के पास नहीं जाती। पर हुआ क्या? उसकी नाक कटी। देहानुराग का यही परिणाम है। साकांख प्रेम नाक कटवाता है तो निष्कांक्ष प्रेम लाज/मान बढ़ाता है। जो केवल देह से अनुराग करता है उसे जन्म-जन्मान्तरों में अपनी नाक कटवानी पड़ती है।

कथाओं में यह कहा जाता है कि लक्ष्मण ने शूर्पणखा की नाक काटी, पर मैं यह नहीं मानता कि लक्ष्मण ने शूर्पणखा की नाक काटी होगी, क्योंकि वे क्षत्रिय थे और क्षत्रिय कभी किसी महिला, नपुंसक, बालक और निहत्थे पर अपने अस्त्र नहीं चलाते। लक्ष्मण ने शूर्पणखा की नाक नहीं काटी, फिर भी शूर्पणखा की नाक कट गई। वह इसलिए कि एक विवाहित स्त्री होने के बाद भी सारी मर्यादा और लज्जा का त्याग कर वह एक स्वदार सन्तोष व्रतधारी पुरुष के पास गयी, उनसे प्रणय निवेदन किया और ठुकरा दी गई। कोई भी स्त्री सारी मर्यादा और लज्जा का परित्याग कर किसी से प्रणय निवेदन करे और ठुकरा दी जाये उसके लिए इससे बड़ी शर्म की बात और क्या होगी। इसीलिए कहा जाता है कि शूर्पणखा की नाक कट गई। यही कारण है कि आज सीता को तो सम्मान से याद किया जाता है, पर शूर्पणखा का कोई नाम भी लेना पसन्द नहीं करता। यदि आप किसी को शूर्पणखा कह दो, तो फिर देखो, वह आपकी नाक काट लेगी।

दूसरी बात रावण के मन में भी सीता के प्रति आकर्षण था और लक्ष्मण के मन भी । पर दोनों में बुनियादी अन्तर था। लक्ष्मण सीता को सदैव माता के रूप में देखते थे। सीता की उन्होंने बहुत सेवा की, उनके लिए जंगलों में कष्ट उठाये। इतने दिनों तक साथ रहने के बाद भी उन्होंने सीताजी को कभी सिर उठाकर देखा तक नहीं। पर रावण का प्रेम देहानुराग तक सीमित था। वाल्मीकि रामायण में सीता और लक्ष्मण के सम्बन्धों को उद्घाटित करने का बड़ा ही प्रेरक प्रसंग है।

जिस समय रावण सीता हरण कर ले जा रहा था, उस समय सीता ने अपने सारे आभूषण उतार-उतारकर फेंक दिये। यह सोचकर कि जब श्रीराम इधर से गुजरें तब उन्हें इन आभूषणों के माध्यम से पता लग सके कि मुझे इधर से ले जाया गया है।

श्रीराम को जैसे ही पता चला कि सीता का हरण हो गया है तो वे व्याकुल चित्त होकर इधर-उधर भटके। दर-दर पर वे सीता को खोजने लगे। जैसे ही उनकी दृष्टि आभूषणों पर पड़ी वे लक्ष्मण से बोले ''लक्ष्मण देखो ये आभूषण सीता के दिख रहे हैं।'' लक्ष्मण ने कोई उत्तर नहीं दिया। श्रीराम ने लक्ष्मण को एक-एक करके मुकुट, हार, कुण्डल आदि बहुत से आभूषण दिखाये और कहा कि लक्ष्मण ये आभूषण सीता के हैं। पर लक्ष्मण ने कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। अचानक उनकी दृष्टि एक 'बिछुए' पर पड़ी, वही बिछुओ, जो सुहाग के चिह्न के रूप में पैर में पहना जाता है। तब लक्ष्मण एकदम उछलकर बोले-

नाऽहम् जानामि केयूरे नाऽहम् जानामि कुण्डले।
नुपूरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।।

हे भैया! मैं मुकुट को नहीं पहचानता, मैं कुण्डल को भी नहीं पहचानता, मैं ये भी नहीं जानता कि ये हार कंगन आदि किसके हैं, पर मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि यह नुपूर/बिछुआ माता सीता का है, क्योंकि मैं प्रतिदिन सीता माता के चरण स्पर्श करते समय इसे देखता था। अतः मैं इसे अच्छी तरह पहचानता हूँ।

कितना फर्क आ गया है, तब और अब के चिन्तन में! आज के लोगों को यह कथन अलंकारिक लग सकता है, मगर नहीं भाई, लक्ष्मण जैसे महान् पुरुषों के जीवन की ऊँचाई अपने इन बौने हाथों से मापने का प्रयास मत करो। उस समय के लोगों में एकसी ही मर्यादा थी। भाभी भी माँ की तरह मानी जाती थी। अब सारी मर्यादाएँ नष्ट हो गई हैं, रहें भी कैसे, अब तो देवरों की शादियों में भाभियाँ सड़क पर नाचने लगी हैं। इसी मर्यादा हीनता के कारण सारे सम्बन्धों में मलिनता आ गई है। हर स्थान पर अश्लीलता का प्रवेश हो गया है।

आखिर ऐसा क्यों हुआ? यह सब आज की शिक्षा पद्धति का प्रभाव है। पहले 'अ' से अरिहंत और 'ग' से गणेश की चर्चा होती थी। आज 'ग' से गधा पढ़ाया जाता है। मेरी समझ में पढ़ने और पढ़ाने वाले दोनों ही गधे हैं, क्योंकि गधा वह है जिसकी गलत धारणा हो। ग-गलत, धा-धारणा, गलत धारण के कारण 'ग' गधा बनता है, 'गणेश' नहीं बन पाता।

आज हमें ब्रह्मचर्य की बात करनी है, उस ब्रह्मचर्य की जो हमें अंगातीत प्रेम का पाठ पढ़ाता है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में प्रायः ऐसा समझा जाता है कि घर गृहस्थी को छोड़ने पर ही ब्रह्मचर्य की साधना की जा सकती है। पर ऐसा नहीं है, गृहत्यागी साधु-संन्यासी तो ब्रह्मचर्य का पालन करते ही हैं, जैनधर्म के अनुसार गृहस्थ विवाह करके गृहस्थावस्था में प्रवेश करता है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अर्थ वासना में डूबना नहीं है, अपितु क्रमशः वासना से ऊपर उठना है। विवाह का उद्देश्य वासना का निमन्त्रण नहीं, वासना का नियंत्रण है। विवाह वासना का केन्द्रीकरण है। अपनी असीम आकांक्षाओं को एक पर केन्द्रित करना ही विवाह का उद्देश्य है। अपने असंयम पर नियंत्रण कर क्रमशः पूर्ण संयम की ओर बढ़ना ही विवाह का ध्येय है। इस उद्देश्य से जुड़ जाने के कारण विवाह के बाद व्यक्ति के काम को काम पुरुषार्थ संज्ञा दी गई है।

विवाह के बाद गृहस्थ का काम एक पर सीमित हो जाता है। अपने पति अथवा पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी के प्रति ब्रह्मचर्य का भाव। इसीलिए गृहस्थ को भी ब्रह्मचारी कहा गया है। विवाह व्यवस्था सामाजिक मर्यादा और सम्बन्धों की पवित्रता स्थापित रखने के उद्देश्य से की गई है। जैसे कहीं कोई बाँध बनाना होता है तो पहले सर्वेक्षण करते हैं, उसकी क्षमता के अनुरूप उसमें 'गेट' लगाया जाता है, गेट का तभी खोला जाता है जब कोई खतरा हो। क्षमता से अधिक जल भर जाने के बाद भी यदि बाँध का गेट न खोला जाए तो महासंकट उत्पन्न हो सकता है। विवाह भी एक प्रकार सामाजिक बाँध है, जिसमें सब ओर ब्रह्मचर्य की सुदृढ़ दीवारें हैं, मात्र एक ही रास्ता खुला है वह है पति और पत्नी का। इसे ही स्वदार सन्तोष व्रत कहा गया है। स्वदार सन्तोष का अर्थ है- अपने पति/पत्नी में ही सन्तुष्ट रहना।

दो ही मार्ग हैं या तो ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करो अथवा विवाह करके गृहस्थी बसाओ। तीसरा कोई मार्ग नहीं है। 'जैनधर्म' में विवाह करके परिवार बसाने की तो अनुमति दी गई है, पर पशुओं की तरह स्वैच्छिक जीवन की अनुमति नहीं है। जो लोग विवाह भी नहीं करते और ब्रह्मचर्य भी नहीं अपनाते, वे सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करते हैं। ऐसे व्यक्ति न धार्मिक हैं न सदाचारी, वे तो पशुओं से भी गये बीते हैं। पशु भले ही बन्धन में नहीं बँधते, पर कम से कम

प्रकृति के बन्धन में तो रहते हैं।

आज तो मनुष्य परस्त्री लम्पट होता जा रहा है। विवाह न कर पर से सम्बन्ध रखना तो बहुत दूर की बात है, अब तो विवाहित व्यक्ति को भी एक से सन्तोष नहीं है। आज तो ''बाँह में है और कोई, चाह में है और कोई'' जैसी बात हो गई है, यह बहुत बड़ा पाप है। कुरल काव्य में लिखा है–

''मनुष्य चाहे कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, पर उसकी श्रेष्ठता किस काम की, जबकि वह व्यभिचारजन्य लज्जा का कुछ भी विचार न कर परस्त्री गमन करता है।''

जिन लोगों की दृष्टि धर्म पर रहती है वे कभी भूलकर भी परस्त्री की कामना नहीं करते। जो लोग स्वदार सन्तोष व्रत धारण करते हैं, वे धन्य हैं। ऐसे ही लोगों में सेठ सुदर्शन को याद किया जाता है।

सेठ सुदर्शन एक अणुव्रती श्रावक थे। वे अतीव सुन्दर रूप और लावण्य से युक्त थे। पूरे पाटलीपुत्र में उन जैसा रूपवान कोई नहीं था। वे जितने रूपवान थे उतने ही विवेकी और साधक भी थे। वहाँ की रानी उनके रूप पर मुग्ध थी उसने एक बार छल से उन्हें अपने राजदरबार में बुला लिया। एकांत पाकर उसने उनसे अपना अभिप्राय/प्रकट कर दिया। सेठ सुदर्शन रानी की काम पिपासा को सुनकर सन्न रह गये। उन्होंने अपनी असमर्थता जताते हुए कहा– ''यह मेरे जीवन में नहीं हो सकता। आप तो मेरी माता की तरह हो, शास्त्रों के अनुसार राजपत्नी और गुरुपत्नी माता की तरह हैं।'' रानी ने अपने सारे हाथकंडे अपनाये पर सब बेकार रहे। अपना अभिप्राय पूर्ण होता न देख उसने 'तिरिया चरित्र' कर सेठ सुदर्शन को फँसा दिया। राजा कुपित हो गया, वह रानी के षड्यन्त्र को समझ नहीं सका। सुदर्शन सेठ को सूली की सजा दे दी गई। पर सत्य तो सूली पर भी अमर रहता है। सत्य प्रताड़ित हो सकता है, पर मर नहीं सकता। सूली की जगह सिंहासन बन गया। देवों ने सेठ सुदर्शन की जय-जयकार की।

इस घटना का सेठ सुदर्शन के मन पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उन्हें वैराग्य हो गया और वे मुनि बन गये। मुनि बनने के बाद उन्हें पुनः एक बार परीक्षा के दौर से गुजरना पड़ा, सोने को ही कसौटी पर कसा जाता है। उनका कामदेव सा

रूप देखकर एक वेश्या उन पर मुग्ध हो गई। वह उनका सामीप्य चाहती थी। उसने अपने हाव-भाव विलास से सुदर्शन मुनि का प्रभावित करने का प्रयास किया, पर वे अप्रभावित रहें। जिसे अपनी भीतरी चेतना का बोध हो जाता है वे बाहरी रूप पर मोहित नहीं होते। वेश्या अपने रूप का प्रदर्शन कर काम बाण फेंकती रही और सुदर्शन मुनि शरीर की अशुचिता का विचार करते हुए वीतराग भाव से अविचल खड़े रहे। मुनि को प्रभावित करने की कोशिश करने वाली वेश्या उनकी वीतराग वृत्ति से प्रभावित हो गई। वेश्या के मन में वासना थी, सुदर्शन मुनि जी का मन वात्सल्य से भरा था। वात्सल्य के आगे वासना हार गई। वस्तुतः वासना का प्रभाव दुर्बल मन पर ही पड़ता है। ''वासना एक कसौटी है। अग्नि सोने को परखती है और वासना मनुष्य के मन को''।

इस प्रसंग में छत्रपति शिवाजी के जीवन का एक प्रसंग बड़ा प्रेरक है। एक बार उनकी सेना ने कल्याण राज्य पर आक्रमण किया और उस पर विजय पाकर लौटी। विजयी सेना को देखकर शिवाजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने सेना नायकों को शाबासी देते हुए पूछा कि ये बताओ कि इस विजय अभियान में तुम हमारे लिए क्या लाये हो।

सेनापति ने अत्यन्त प्रसन्नता से कहा कि ''आज हम हिन्दुस्तान की सर्वश्रेष्ठ कृति आपको समर्पित करना चाहते हैं।'' इतना कहकर उसने कल्याण नरेश की पुत्रवधु को शिवाजी के सामने खड़ा कर दिया। शिवाजी यह देखकर स्तब्ध रह गये। उन्होंने अपने सेनापति को धिक्कारते हुए कहा कि ''इतना बड़ा अनर्थ! मेरे रहते इतना जघन्य कृत्य, धिक्कार है! किसी की कुल वधु को हाथ लगाते हुए तुम्हें शर्म नहीं आयी? क्या कल्याण नरेश की कुल वधु हमारी तुम्हारी वधु के समान नहीं है? वह तो हमारी वधु ही नहीं, माँ, बहन के समान है। तुम सबने आज मातृशक्ति को अपमान किया है। तुम्हारी माँ बहिन के साथ ऐसा व्यवहार हो तो तुम्हें कैसा लगेगा? जाओ, मैं आदेश देता हूँ कि कल्याण नरेश की वधु आज से मेरी बहन है, मेरी ही नहीं पूरे मराठवाड़ा की बहिन है, अपनी बहन के शील की रक्षा करते हुए उसे ससम्मान कल्याण तक पहुँचा दिया जाये।''

धन्य हैं ऐसे लोग। शिवाजी एक शासक होने के बाद भी बहुत ऊँचा

आदर्श स्थापित कर गये। आज के शासकों को उनसे पाठ सीख लेना चाहिए। पर क्या कहें, आज के शासक भी स्वयं भ्रष्टाचारी हो गये हैं। सेक्स सम्बन्धी जितने भी बड़े सकैण्डल उजागर होते हैं उन सब में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रायः किसी न किसी बड़े नेता का हाथ होता है, ऐसे लोगों से हम क्या अपेक्षा रख सकते हैं।

शिवाजी जैसे शासक धन्य हैं। ऐसे ही लोगों के लिए कुरल काव्य में लिखा है– ''धन्य है उसके पुरुषत्व को, जो पराई स्त्री पर दृष्टि भी नहीं डालता। वह केवल श्रेष्ठ और धर्मात्मा ही नहीं है, वह 'सन्त' है''।

आज ऐसे लोग बहुत कम हो गये हैं। मनुष्य का नैतिक और चारित्रिक पतन हो गया है। इसका ही परिणाम है कि व्यभिचार जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ दिनोंदिन बढ़ती जा रही हैं। आज वकीलों से पूछो तो वे बताते हैं, सबसे ज्यादा केस बलात्कार के आते हैं। कहाँ नष्ट हो गयीं मर्यादाएँ। अब तो हमारे सम्बन्धों में भी पवित्रता नहीं रही, भाई और बहिन जैसे पवित्र रिश्ते भी संदिग्ध हो गये हैं। मनुष्य का इससे बड़ा पतन अब और क्या होगा।

गहन आत्मचिन्तन की आज महती आवश्यकता है। सद्गृहस्थ वही है जो स्वदार संतोष व्रत का पालन करता है। कुरल काव्य में लिखा है– ''सद्गृहस्थ वही है, जिसका हृदय अपने पड़ोसी की स्त्री के सौन्दर्य और लावण्य से आकृष्ट नहीं होता।''

ब्रह्मचर्य की साधना मात्र आँख की साधना है। दृष्टि में परिवर्तन आते ही ब्रह्मचर्य घटित हो जाता है। यदि व्यक्ति परस्त्री को परस्त्री न समझकर माँ, बहन या बेटी की तरह देखना प्रारम्भ कर दे तो विकार उत्पन्न नहीं हो सकता। दृष्टि में विकार आते ही काम का विकार उत्पन्न हो जाता है। ऐसे निर्मल दृष्टि वाले लोगों को भारतीय संस्कृति में कहा गया है–

आत्मवत् सर्वभूतेष पर द्रव्येषु लोष्ठवत्।
मातृवत् परदारेषु यः पश्यति सः पण्डितः।।

जो सभी प्राणियों को अपने समान, पराये धन को मिट्टी के समान तथा

परस्त्री को माता के समान देखता है, वह पण्डित है। स्वदार सन्तोष व्रती की ऐसी ही दृष्टि होती है। आज के इस उत्तम ब्रह्मचर्य के दिन आपसे इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप स्वदार सन्तोष व्रत के महत्त्व को समझें, शील का पालन करें, शील ही मनुष्य का सच्चा आभूषण है। शील के अभाव में सारी धार्मिक क्रियाएँ व्यर्थ हैं। शील रहित मनुष्य के लिए शास्त्रों में कहा गया है-

तीर्थानि वा व्रजतु तिष्ठतु चैक पादम्।
तोये निमज्जतु पतत्वतु वाद्रिश्रृंगात्।।
नायाति शील रहितस्य परत्र सिद्धि।
बीजाच्छिलातलगतादिव सस्यसिद्धिः।।

''चाहे तीर्थ जाओ, चाहे एक पैर से खड़े रहो, चाहे जल में निमग्न होओ और चाहे पर्वत के शिखर से कूद पड़ो, तो भी जैसे शिलातल पर पड़ा बीज फलीभूत नहीं होता वैसे ही शील रहित मनुष्य को परभव में सिद्धि प्राप्त नहीं होती।'' अतः शील का पालन करें।

कामान्ध व्यक्ति शील का पालन नहीं कर सकता। क्योंकि काम मनुष्य के विवेक को कुण्ठित कर देता है। कहा है- ''**कामातुराणां भयं न लज्जा**'' कामातुर व्यक्तियों को न भय होता है और न ही लज्जा। उसे अपने पराये का भी बोध नहीं होता। पुराणों में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो मनुष्य के व्याभिचारी चरित्र को उजागर करते हैं। श्वेताम्बर साहित्य में राजुल और रथनेमि का बड़ा मार्मिक प्रसंग है-

रथनेमि अपने युग का कठोर साधक था। एक बार गिरनार की गुफा के एकान्त में लावण्यवती राजुल के रूप को देखकर मुग्ध हो गया। वह अपनी साधना को भूलकर वासना का दास बन गया और भय और लज्जा को त्याग कर राजुल से वासना की याचना कर दी। राजुल रथनेमि की बात सुनकर हतप्रभ रह गयी, पर वह उसे स्थाई बोध देना चाहती थी। इसलिए उसने कुछ गम्भीर होकर कहा कि ''कि तुम्हारी प्रार्थना पर बाद में विचार करूँगी पहले मेरे लिए कोई पेय ले आओ, मुझे प्यास लग रही है।''

तत्काल बादाम-पिश्ता और केशरयुक्त दूध मँगाया गया। राजुल ने उसे हाथ में लिया और गिलास में थूककर रथनेमि की ओर बड़ा दिया। रथनेमि भौचक्का रह गया, उसने कहा कि ''इस प्रकार थूकी हुई वस्तु किसी को दी जाती है''? राजुल ने कहा ''यह पेय बड़ा मधुर है, इसे तुम ग्रहण करो, मैंने उसमें थोड़ा ही लिया है तुम इसे ग्रहण करो, तुम तो मुझसे बहुत प्रेम करते हो न''।

रथनेमि तमतमा गया और बोला ''क्या किसी की थूक भी सेवन योग्य है?'' यह मेरे द्वारा नहीं हो सकता?

अबकि बार राजुल ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा कि ''जब तुम किसी थूक को ग्रहण नहीं कर सकते तो मुझ पर क्यों आसक्त हो रहे हो? मैं भी तो श्रीनेमिनाथ जी की वाग्दत्ता हूँ। उन्होंने मुझे छोड़ दिया, किसी के द्वारा उच्छिष्ट मुझ पर मुग्ध होते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती।''

राजुल ने अपनी बात जारी रखते हुए कहा कि कोई भी साधक अपनी साधना में तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि वह अपने मन के विकल्पों को न जीत ले। रूप को देखकर भी जिसके मन में रूप के प्रति आसक्ति उत्पन्न नहीं होती वही सच्चा साधक है। काम वासना पर विजय पाये बिना अपनी साधना के अभीष्ट को नहीं पाया जा सकता। और तो क्या भ्रष्ट जीवन जीने की अपेक्षा मरण ही श्रेयस्कर है। राजुल के आध्यात्मिक सम्बोधन से रथनेमि पुनः स्थिर हो गया। कुरल काव्य में लिखा है-

''व्याभिचारी व्यक्ति को इन चार बातों से कभी भी छुटकारा नहीं मिला- घृणा, पाप, भ्रम और कलंक।''